ऋष्यशृंग
डॉ. अमरेन्द्र

ऋष्यशृंग

(काव्य-रूपक)

काश्यपश्य च पुत्रोऽस्ति विभाण्डक इति श्रुतः
ऋष्यशृंग इति ख्यातस्तस्य पुत्रो भविष्यति।
स वने नित्यसंवृद्धो मुनिर्वनचरः सदा।।
नान्यं जानाति विप्रेन्द्रो नित्यं पित्रनुवर्तनात्।
द्वैविध्यं ब्रह्मचर्यस्य भविष्यति महात्मनः।।
लोकेषु प्रथितं राजन् विप्रैश्च कथितं सदा
तस्यैवं वर्तमानस्य कालः समभिवर्तत।
अग्निं शुश्रूषमाणस्य पितरं च यशस्विनम्।
एतस्मिन्नेव काले तु रोमपादः प्रतापवान्।
अंगेषु प्रथितो राजा भविष्यति महाबलः।
तस्य व्यतिक्रमाद् राज्ञो भविष्यति सुदारुणा।।
अनावृष्टिः सुघोरा वै सर्वलोकभयावहा।

(श्रीमद्वाल्मीकीयरामायणम् : बालकाण्डम्, नवमः सर्गः)

ऋष्यशृंग

(काव्य-रूपक)

कवि

डॉ. अमरेन्द्र

समीक्षा प्रकाशन

दिल्ली/मुजफ्फरपुर

ISBN : ९७८.८१.८७८५५.६३.७

प्रथम संस्करण
२०२०

सर्वाधिकार ©
लेखकाधीन

प्रकाशक
समीक्षा प्रकाशन
जे. के. मार्केट, छोटी कल्याणी
मुजफ्फरपुर (बिहार)-८४२ ००१
फोन : ०९३३४२७९९५७, ०९९०५२९२८०१
E-mail : samikshaprakashan@yahoo.com
www. samikshaprakashan.blogspot.com

दिल्ली कार्यालय
आर-२७, रीता ब्लॉक
विकास मार्ग, शकरपुर, दिल्ली-९२
फोन : ०९९११४७८६६८

शब्द-संयोजन
सतीश कुमार

आवरण-चित्र
www.wallpapershit.com से साभार

मुद्रक
बी.के. ऑफसेट,
शाहदरा, दिल्ली।

मूल्य
१५०.०० (एक सौ पचास रुपये)

RISHYSHRING By Dr. Amrendra Rs.150/-

कथा और अभिनय के शिल्पी

मित्र रंजन कुमार

के लिए!

—अमरेन्द्र

अंक-क्रम	पृष्ठ
● प्रथम अंक	११-२९
● द्वितीय अंक	३०-४०
● तृतीय अंक	४१-५५
● चतुर्थ अंक	५६-६७
● पंचम सर्ग	६८-९८
● षष्ठ अंक	९९-१०८

आत्मकथन

काव्य-सृजन-काल में क्या कवि सचमुच ऋषि की भूमि पर होता है? क्या उस समय काल अपने समस्त प्रसार को समेटकर कवि के सम्मुख विन्दु रूप में उपस्थित हो जाता है, जिससे कि वह काल के अतीत, वर्त्तमान और भविष्य को एक साथ देख सके, फिर वह जो लिखे, वह किसी काल विशेष के लिए नहीं, वह सब समय के लिए दिखे, काल का कोई भी खंड हो, वह उसमें अपनी प्रतिच्छाया देख सके? अगर यह सच भी है, तो कवि का ऋषि-पद पर होना कुछ काल विशेष के लिए ही संभव है, बस सृजन-काल तक ही। कवि का ऋषित्व स्थाई हो भी कैसे सकता है, जैसे कि वह हमेशा कवि भी नहीं बना रह सकता। बस इतना कहा जा सकता है कि प्रज्ञा की एक विशेष अवस्था में रचित वह कृति, किसी विशेष सिकुड़े काल-खंड को नहीं, बल्कि काल के विस्तार को आभाषित करती रहती है।

मैंनें जब ऋष्यशृंग काव्य-रूपक रचने की बात सोची थी, तब उसका विस्तार एक डेग भर का था, यानी अंग प्रदेश के ऋष्यशृंग को, अंग की कामवालाओं द्वारा चंपा तक ले आना और इस तरह दुर्भिक्ष का दूर हो जाना, लेकिन काव्य के जैसे ही कुछ छंद उतरे, तो इसने विस्तार लेना शुरू किया। दशरथ की चिंता, उनका अंग प्रदेश आना, अवध के दशरथ के लिए ऋष्यशृंग का पुत्रेष्टि यज्ञ, शांता का सहयोग, अंग-अवध की संस्कृति और तत्कालीन सामाजिक-राजनीतिक संघर्ष को देखने की लघु लालसा, बहुत कुछ उतरते चले गये, पर सब कुछ इस तरह कि अदेखे स्रोत महानदी से मिलते जा रहे हों, और मैं विवश-सा उन बातों को समेटने में लगा रहा, जो चंपा में सावन

की गंगा की तरह उतर रही थीं।

इस काव्य-रूपक को यूं तो मैंने सन् 2019 ई. के अप्रैल के मध्य में ही पूरा कर लिया था, जिसको रचना भी, इसी वर्ष की वसंत पंचमी यानी 29 जनवरी को शुरू किया था। पंचम अंक के आखरी कुछ छंदों को 19 अप्रैल की रात में लिखा था।

दोबारा देख जाने में आलस्य, दो-चार डायरियों में काव्य के बिखरे होने के कारण उन्हें संगति देने की दिक्कत, फिर भाव-विचार को पकड़ने में लिखावट की अस्पष्टता, वह भी कहीं-कहीं नहीं, पग-पग पर; देखता, तो मन यही होता, बाद में कभी देख लूँगा, और समय निकलता ही गया। यह तो मध्य मार्च 2020 ई. को नमस्कार कि देश भर के साथ मेरे भी बंदी होने की अवधि शुरू हुई और 'ऋष्यशृंग' काव्य-रूपक की मुक्ति के दिन आए। सब कुछ व्यवस्थित किया, जो समझ में नहीं आया, उसे हटा दिया, कुछ जोड़ने का तो प्रश्न ही नहीं था, यह समय चाहता और मैं समय देने को तैयार नहीं हूँ, क्योंकि समय ही ऐसा है। बस एक ही इच्छा प्रबल है कि इसे अपने से मुक्त कर लोक को समर्पित कर दूँ।

परसों पाँच अगस्त है, राम की जन्मभूमि पर शिलान्यास का दिन। यह मात्र कोई संयोग है, या अचेतन मन की ही कोई इच्छा, कि अपने इस काव्य को जोड़-घटाव के किसी संभावित वनवास से मुक्त कर रहा हूँ। पांडुलिपि प्रकाशक को आज ही सौंप दूंगा, ताकि लोक को यह प्राप्त हो सके, शृंखलाबद्ध बंदी के बावजूद।

—अमरेन्द्र

रक्षाबंधन, ०३ अगस्त २०२०ई.

सम्पर्क : लाल खां दरगाह लेन,
सराय, भागलपुर, बिहार-८१२००२
मो. - ९६३६४५१३२३, ८३४०६५०६७६

पात्र

पुरुष पात्र

ऋष्यशृंग
रोमपाद
दशरथ

नारी पात्र

शांता
अनंगिनी
रतिसेना
राका
नवनीता

प्रथम अंक

(लताओं-पुष्पों, चित्रों से सुसज्जित एक कुटीर, जिसके बाहर अलग-अलग गढ़े शिला-खंडों पर आभूषणों-वस्त्रों में सजी नर्त्तकियाँ संवादरत हैं)

अनंगिनी

ठहरो, तन-मन-प्राण बाँध लूँ, तब आगे फिर कहना,
कैसे तुम पहुँची उस गिरि पर, निर्भय बनी अकेली;
मुझको तो विश्वास अभी भी होता नहीं सहेली,
बिना नृत्य-गायन के तरी पर आगे बढ़ते रहना!
हँसना भी तो अधरों में ही; जैसे, कुसुम-हँसी हो,
कहने में; पल्लव हिलने ही भर का दृश्य अनोखा;
वेणुवनों में मलयानिल के चलने का हो धोखा;
लगता होगा; साँस कहीं ग्रीवा में दबी-फँसी हो!

रतिसेना

जो कुछ तुमने कहा, सही है; क्या कुछ इसमें शक है,
निर्भयता भय के हाथों में अब भी ज्यों बंधक है।
रह-रह सिहर उठूँ प्राणों तक अब भी याद उसे कर,
भीषण लहरें बहा रही हों; जैसे, बोहित जर्जर!
वह तो साथ रही रतिमाता निगरानी में पलपल,
बाँहों में भर लिया तुरत ही, उठी कहीं जो हलचल;

उसके ही आदेशों से संचालित थे, तो कुशल हुआ,
लक्ष्य निकट था, रतिमाता के कारण ही वह सफल हुआ।
तिलका चला रही थी बजरी मंद पवन की माया में,
चप्पू की छपछप चंचल थी नील व्योम की छाया में।
माँझी-सुख से भरी हुई गलही पर बैठी हेर रही,
और कभी करुआरी ले किस सुख को जाने टेर रही;
पनसूई से हलकी होती लगती थी बजरी तब तो,
एक स्वप्न-सा लगता है, जो बीता है, वह सब अब तो!
पाता पानी में चंचल था, इसकी भी कुछ खबर नहीं,
सच पूछो तो ध्यान किसी का किंचित भी था उधर नहीं।
उथरे पानी में रैया का मोद, सुहाती, भूलूं क्या,
मेरे लिए तो सब कुछ जैसे वहाँ लगा था नया-नया!

अनंगिनी

फिर क्या हुआ, कहो आगे भी, रैगा तक का; रुको नहीं,
मेरे भी मन की तो सोचो, बस अपने पर झुको नहीं;
घाट छोड़ बजरी जब आगे बढ़ी, कहाँ पर ठहरी फिर,
कुछ तो सोच रखी होगी रतिमाता ने मन में आखिर?

रतिसेना

नहीं अनंगी, किसी घाट पर रुकने का अवकाश कहाँ;
लहरों पर कुछ देर मचलते, इतना क्षण भी पास कहाँ;
नींद खुली थी चेतनता की रतिमाता-संकेतों से,
रुकने का आमंत्रण देता हो कोई ज्यों रेतों से;
ठहर गई थी बजरी, रेतों की सीढ़ी के बहुत निकट,
दूर-दूर तक बिछी हुई बस सन्नाटों की ही आहट।

राका

उस निर्जन में रुकी भला क्यों, कहीं और रुकना था,
जानबूझ कर विपदाओं के सम्मुख क्यों, झुकना था।

सुना यही है, गजराजों का, सिंहों का वह क्रीड़ाथल;
छूट जहाँ जाते हैं क्षण में प्राणों के, सारे संबल।

रतिसेना

तुमने ठीक सुना है, राका, फिर भी कितना शांत सुभग,
नीलम का वह प्रांत, ज्योंति से होता था कैसा जगमग!
अनुशासन में बँधी हवाएँ, झील; चाँदनी जमी हुई,
जहाँ काल की गति भी देखी; मैंने जैसे थमी हुई!
रतिमाता ने कहा, 'यहीं पर रुकी रहो कुछ और अभी,
जब तक ऋषिवर निकल न जाते, करो प्रतीक्षा यहीं सभी!'
फिर देखा कि एक पुरुष कंचन से बना, खड़ाऊँ पर;
मलय वृक्ष ज्यों उस निर्जन में उठ आये हो भू ऊपर,
मधु समीर को साथ लिए चल पड़े उसी की गति से,
संचालित हो रहा हृदय था, मुनि की चिंता-मति से।
जैसे दूर हुए आँखों से, रतिमाता मुस्काई,
चमक उठी हो; ज्यों, प्रभात में पारद खिली जुन्हाई!
कहा, 'कौन जायेगी कुटी तक? बाकी यही रहेंगी,
ऋषिवर के जाने तक कोई कुछ भी नहीं करेंगी'
निकलेंगे तो पक्ष-माह के बाद यहाँ लौटेंगे
तब तक हम सब ही क्या ऐसे निर्जन में बैठेंगे।
सुनकर वचन सभी चुप ही थे 'हाँ' भी निकल न पाया,
ऋषिवर निकल गये थे लेकिन भय तो वहीं समाया;
क्या जाने कब लौट पड़े और अनल शाप का बरसे,
खुले हुये मुँह से मुनिवर के, उठे हुये से कर से।

अनंगिनी

तब फिर इसके बाद हुआ क्या? इसको भी कह डालो!

रतिसेना

इतना भी व्याकुल क्या होना, खुद को जरा संभालो!
मुस्काई थी फिर रतिमाता, मेरी ओर निहारा,
मेरे मन की इच्छाओं को जैसे मिला सहारा।
करने से आदेश पूर्व मैं हुई रोमांचित ऐसे;
नन्हीं-सी कोमल डाली पर हारिल फुदके, जैसे।
पाकर के संकेत सज गई नख से लेकर सिर तक,
कंचनलता, कुसुम कंचन के, कलियों से हो लकदक;
रेशम की लहरें ले तन पर, बाँधे पैर पवन से,
परिमल को छितराती, आगे बहती रही यतन से।
क्या बोलूँ उस क्षण की माया; एक अलौकिक आसव,
खिंची जा रही थी जैसे मैं; बढ़ी मलकती झबझब।
पहुँची जब आश्रम पर देखा–

अनंगिनी

पौर्णमास जागृत हो,
रजत किरण से भानु हेम का अबतक ज्यों आवृत हो!

राका

सच कहना क्या देख दृश्य वह, टेसू नहीं खिले थे?
उठी घटाओं के सपने क्या नभ से नहीं मिले थे?
घ्राणों से ही भले, स्वाद तो लिया ही होगा रस का,
दोष नहीं कुछ इसमें तेरा, यह तो दोष वयस का!

रतिसेना

चुप ही रहो, कहाँ जा पहुँचा चलकर ध्यान तुम्हारा,
शून्य गगन पर पुष्प खिला-सा है मनुभाव तुम्हारा।
उतरी थी बजरी से जैसे गंगा के उस तट पर,
पूजा के कुछ कमल खिले थे कंचन के इस घट पर।

नेत्र, हृदय, कर, कंज ही नही, प्राण कमल-से फूले,
कैसा था वह भाव उठा, जो स्वर्ग निमिष में छूले;
उसी भाव में बँधकर सम्मुख आगे थी तापस के,
क्या बतलाऊँ रसावेश को, शान्त भाव के रस के!

अनंगिनी

आगे कहो, कहा क्या तुमसे, जब तापस ने देखा!
क्या उनकी आँखों में तब भी दिखी न चंचल रेखा?
आनन पर क्या इन्द्रधनुष की आभा कहीं न उभरी?
माना यह, तुम नहीं हुई थी प्रेम भाव से दुहरी;
पर तापस तो तापस से पहले वह एक पुरुष हैं,
देखी नहीं कामिनी-छाया; रोम-रोम से खुश हैं।
ऐसा कहाँ सुना है किसने, बरसे घटा अमय ले,
और वृक्ष पुलकित होने में पहरों-पहर समय ले!

रतिसेना

सच ही कहा सखी यह तुमने, मुझको भी यह भ्रम था,
लेकिन विश्वासों के गिरने का भी वह क्या क्रम था!
देखा था मुझको जैसे, वह तापस वहीं से आया;
बहुत विनय में, श्रद्धा भाव में मैंने उनको पाया।

राका

लेकिन क्या ऐसा भी कोई, परिचय बिना, करेगा ?
यह तो संभव तभी, देव जब मति को तुरत हरेगा।

रतिसेना

कुछ भी समझो, प्यारी, भ्रांति में मैंने मति को डाला;
उनकी ज्ञान-प्रशंसा कर, कुछ मध्यम पंथ निकाला,
जग असार, बस ब्रह्म सत्य ही; स्वयं को यतिन बताया,
पल भर को तो यही लगा कि बदल गई हो काया।

तन्मात्राओं की कुछ बातें, पुरुष-प्रकृति पर रुककर,
आश्रम-कुल को पूछ लिया था ऋषिकुमार का, झुककर।

राका

ऋषिकुमार भी झुके! अरे तुम सोच-समझकर बोलो,
बही जा रही हो मतवाली कुछ तो चेतन हो लो!

रतिसेना

तो क्या समझ रही हो, मैंने जो भी कहा, मृषा है?
मेरे सत्य वचन का दिव क्यों लगता असत निशा है?
ब्रह्मचारी को कहाँ ज्ञात था नारी-पुरुष का अन्तर;
जिसे जान लेते हैं हमसब एक निमिष में सत्वर।
मैंने जब संबोधन में, विद्वस! वेदन्तिन! कहकर,
श्रौत्रिय, कपिल कहा था क्या-क्या बहुत विनय में बहकर;
ऋषि कुमार ने समझा, मैं भी उपाध्याय, मौहर्तिक,
जो भी था व्यवहार मेरा, बस वाचिक, जरा न कायिक।
छान्दस मुझे समझ कर ही वह पाद्य अर्घ्य ले आए,
फल को तोड़ा; इसके पहले आसन वहाँ बिछाए,
फिर मेरा सत्कार किया था, मुझे देखते ऐसे;
शुक्ल पक्ष के पूर्ण चंद्र को निरख रहे हों, जैसे।
कहने लगे, 'नहीं देखा था रूप दिव्य यह अब तक,
इस प्रभात की बेला में भी ज्यों मयंक को झकझक!
किसी वेदपाठी के अबतक ऐसे केश न देखे,
मैं तो हूँ आश्चर्यचकित बस इसी बात को लेके!
रेशम-पट से ढकी हुई यह देह; रुद्र की माला;
यतिकुमार! अर्चा का यह है कैसा भेद निकाला?
कौन तपस्वी के आश्रम के? कहिए अन्तेवासी!
वय से लगते तो किशोर हैं, मन से पर सन्यासी।
ब्रह्मण, क्या है नाम आपका, किस व्रत के व्रतधारी?
लगते तो संसारमुक्त-सा होकर भी संसारी।

आँखों में यह धूप यज्ञ का, किस कारण से कहिए?
कंचन के रुद्राक्ष, कमर, कर, पाँवों में क्यों? कहिए!
किनके सुत है, किस आश्रम से आना हुआ यहाँ पर?
यह तो ऐसा लोक, विहग, पशु, वनचर रहे जहाँ पर।
जो आतिथ्य यहाँ संभव है, वही किया है, तापस,
सबकुछ हो स्वीकार, कहीं से लगे मुझे न अपयश!
ये अरण्य के कंद-मूल हैं, शीतल जल सरिता का;
मृग-शावक की चौकड़ियों से यहाँ अमा भी राका।'

राका

यह सुन कर सचमुच ही तुम तो काठ बन गई होगी;
मन ने तुमसे से पूछा होगा, 'क्या उत्तर अब दोगी?'
मैं भी तो वह सुनूं, कहा क्या तुमने सब कुछ सुनकर,
चाहे जैसा समय सूत हो, मन तो होता बुनकर।

अनंगिनी

बोलो आली, समय-भार को हल्का किया, तो कैसे?

रतिसेना

वह भी सुन लो, शांत भाव से कहने लगी थी ऐसे—
ये अरण्य के कंद-मूल, यह शीतल जल सरिता का,
मृगशावक की चौकड़ियों-सी, जहाँ अमा भी राका,
कीट-भृंग भी कोयल के स्वर में संगीत सजाते,
जिनको पुण्य मिला जन्मों का, वही यहाँ आ पाते;
यह मेरा सौभाग्य आपके सम्मुख आज खड़ी हूँ,
सिद्धि और निधियों से सचमुच लगती बहुत बड़ी हूँ,
पर मेरा व्रत और आचरण भिन्न आपसे हटकर,
किसी तरह जीना क्या संभव उनसे किंचित कटकर?
आलिंगन मेरा अभिनन्दन है, रस का रास, रसायन,
मेरे व्रत के अंग-अंग में नृत्य, पिकी का गायन,

रोम-रोम में खिलते हैं, टेसू के रंग रसीले,
चुम्बन को ही, मेरे हैं ये वंकिम नयन नुकीले।
मेरी बातों में मदिरा का मेघ उमड़ता रहता,
और बरस जाए, तो तप का पर्वत तक है बहता!
मेरी बाँहों में ही वय का पुण्य खिला करता है;
मेरे अधरों की भापों से हीर गला करता है;
मै मदिरा की सखी और में रति की पूर्ण कला हूँ;
सभी लोक में इसी देह के अगम तलों को थाहूँ;
किसी शून्य से बढ़कर मेरा मोक्ष देह का मन है;
यही आग है, मिट्टी, पानी, मारुत, नील गगन है!

अनंगिनी

इतना कह कर निश्चय ही आलिंगन में ले उनको,
शांत कर रही होगी अपने उद्वेलित उस मन को?
मुग्धा से मध्या तक के अभिनय का रास रचाकर,
क्या मैरेय, नग्नहू वह था, या था वह मध्वासव?
जिसकी गंध हवा को छू ले, तो सज जाए कलरव!
आगे कहो, कहो न कुछ भी, अब क्या छुपा-छुपा है,
जिस अनंग की कृपा सखी पर, मुझ पर वही कृपा है।
छूते ही, अधरों का आसव सुर में बदला होगा,
उस समीर के झोकों में मन कैसे संभला होगा!
नव किशोर तापस की पलकें; मलयानिल-सी चंचल,
तुमको ढूँढ रही होंगी तब होकर बेबस-विह्वल,
और उधर तुम धीराधीरा बनी, प्रगल्भा-रति में,
नाच रही होगी सुर सारे बांधे अपनी गति में।
भाव-हाव से रूप-कांति वह सचमुच अद्‌भुत होगी,
रंभा आगे जब झुकते हैं गिरि-गह्वर के योगी।

नवनीता

उस क्षण निश्चित नयन तुम्हारे नाचे होंगे जमकर,
ऊपर-नीचे आड़े-तिरछे चंचल कभी विलम कर;
पलकों-भौंहों का नर्त्तन क्या खूब निराला होगा,
कैसे ऋत्विक ने अपने को हाय संभाला होगा!
जैसे ही अधरों के नर्त्तन-कंपन, दायें-बायें;
होता होगा वक्ष प्रकंपित लेकर कई कलाएं;
सम में, नत में, उन्नत में ग्रीवा का हो संचालन;
भला कौन ब्रह्मचर्य धर्म का करना चाहे पालन?
इस पर कटि का छिन्न प्रकंपन, नाभि-नटी का नर्त्तन;
जंघा, घुटने, पैरों का रुक-रुक लयबद्ध विवर्तन;
हाथों की अंगुलियों पर संगीत सज गया होगा;
सच पूछो तो देख श्रोत्रिय का रुधिर जम गया होगा!

(सभी खिलखिलाती हैं । हँसी पर
नियंत्रण करती अनंगिनी कहती है)

अनंगिनी

उस क्षण में माधुर्य तुम्हारा, दीप्ति तुम्हारी! अद्‌भुत!
जो विलास, लीला हैं तुममें, वह तो सचमुच अश्रुत!
सजने का अभिनय, फिर उस पर आभूषण का खेला,
तुमने लगा दिया ही होगा कन्दर्पों का मेला।
फिर आगे की बात करो, क्या इसके बाद हुआ था?

रतिसेना

यूं समझो कि मेरे उस पिंजरे में बंद सुआ था;
वह जो अभी-अभी पर खोले उड़ने को आतुर था;
उसकी ही आँखों में छाया आसव का माहुर था।
मिस्टी जो कुछ साथ लिए आई थी, उन्हें खिलाकर,
बाकी जो था बचा चषक में उसको उन्हें पिला कर;

लगी लौटने, तो कातर हो ऋषिकुमार थे बोले—
'रुको व्रती, यह चंचल मन तो इस्थिर किंचित होले।'
जो उदात्त था, शांत-धीर, अब दिखता धीर-ललित था,
दूर-दूर जो लक्ष्य अभी था, देखा वही फलित था।

राका
धीरोद्धत भी दिखे?

रतिसेना
नहीं, औदार्य भाव में इस्थिर,
भरे हुए माधुर्य-ललित से कह उठते थे फिर-फिर—
'यह कैसा है हेमभाव, जो जाना नहीं अभी तक,
यह रक्तिम-सा फैल रहा क्या, नभ से दूर मही तक!'
क्या बोलूँ, ऋत्विक के मन में क्या उद्वेग भरा था,
यूँ समझो कि बिन पावस के सब कुछ हरा-भरा था।
जो मानस में उमड़ चला था, वाचिक बन कर आया।

अनंगिनी
आरभटी में वृत्ति दिखी क्या?

रतिसेना
ऐसा नहीं तो पाया।
मैं ही वृत्ति कौशिकी में थी, मैं ही आरभटी में,
जाग रहा था रंगमंच बस केवल एक नटी में।
ऋत्विक में लेकिन देखा था मैंने भी परिवर्तन,
स्वर चलने के साथ स्वरों में हर्ष-कम्प का नर्त्तन!
बाँहों का सहसा उठ जाना, पलकों का झुक जाना;
मेरे लिए नया क्या कुछ था, सब कुछ तो पहचाना;
तभी चेतना पर निद्रा का पहरा मुझे दिखा था;
आँखों में औत्सुक्य भाव का झिलमिल पाश लिखा था।

राका
यह सब हुआ, असंभव जो था, कठिन परीक्षा ही थी,

अनंगिनी
सफल हो सकी, तो समझो माता की शिक्षा ही थी।

रतिसेना
अब भी मेरी आँखों में है; आलिंगन में झुकना;
चन्दन की डाली पर आकर लवंगलता का रुकना;
ज्यों कदम्ब के पुष्पभार से डाली झुकी हुई हो;
स्वच्छ शिला पर छटा हफसती आकर रुकी हुई हो;
जैसे पवन बहा करता है सुरभि उठाए कर में;
जैसे साँस बजा करती है पर्वत के गह्वर में;
देश-काल सब ठहर गये थे, जो-जो जहाँ-जहाँ थे;
मैं भी कहाँ रही थी उस क्षण, ऋत्विक कहो-कहाँ थे!
मैंने ही तब देश-काल की उनको याद दिलाई,
अग्नि होम का समय बता कर लौट वहाँ से आई।

राका
झंझावात उठा कानन में, मलयवृक्ष झकझोरे,
जब तुम लौट रही होगी, तो होंगे वह कर जोरे!
यही सोच कर, तुम-सा ऋत्विक कोई और नहीं है,
कोयल का पंचम दिगन्त तक, जबकि बौर नहीं है;
आखिर तक टकटकी लगाए देखा होगा तब तक,
आँखों से तुम दूर हुई न होगी ओझल जब तक।

(सम्मिलित हँसी)

अनंगिनी
फिर क्या हुआ, कहो आगे भी,

रतिसेना
होना क्या था आली,
ऋषिकुमार के सम्मुख था कुसुमेश बजाता ताली।
साँझ कहीं होगी, संभव है रात कहीं पर होगी,
ऋत्विक को देखा क्या तुमने बनते हुए वियोगी ?
मैंने देखा था रजनी में बनकर स्वप्न उतरते,
ऋषिकुमार को मेरे आगे-पीछे लगे, विचरते।
मुख पर वह जो भाव दिखा था, क्या उसको बतलाऊँ,
संभव नहीं कि अभिनय करके अब उसको दिखलाऊँ।
देखा, मुझसे बोल रहे हैं, यति किशोर, 'क्या अनुपम
जटा आपकी है यह सर पर, या सर पर हैं घन-तम?
किस आसन से, प्राण-सिद्धि से ऐसे वक्ष मिले हैं?
हो मृणाल ज्यों नाभि, उसी पर ये द्वय कमल खिले हैं।
श्वेत-श्याम रंगों के दो-दो खिले कमल, ये आँखें,
उस पर फैली भौंह-छटा ये; कोयल की हो पाँखें!
वसन-देह, कस्तूरी-कमल; किस नई सिद्धि का फल है?
आश्रम क्या, पूरा अरण्य ही जिससे कि महमह है।
क्या ऋत्विक की देह बनी हिम से ही; हुई तरल है,
इन प्रश्नों में किसी एक का उत्तर कहाँ सरल है।'
बंद किए अपनी आँखों को जगी रही रजनी भर,
देखा तारे ऊँघ रहे हैं अब भी नील गगन पर,
पर जैसे ही दिखा भुरकवा, खिली कमलिनी-सी मैं;
उसी ओर बढ़ चली सुरभि-सी, उसी विजन को, री, मैं।
खस, गुग्गुल, केसर, चंदन, फिर अगर और कस्तूरी,
बिना बताए धूप सुरभि की सारी कथा अधूरी;
उन गंधों से मिलकर जब लोवान-गंध उठती थी,
मेरी गति को, चेतनता को, रह-रह कर हरती थी।

वह तो भूपति की आज्ञा, रतिमाता का संबल था,
आँधी के भी बीच लक्ष्य का मेरा अडिग कमल था।
जब पहुँची, तो देखा, तब भी ऋषिकुमार को जागे,
अपने मन को कोसा, 'तुमने कैसा किया, अभागे!'
लेकिन मुझको देख खिले वह; जैसे, कमल खिला हो,
प्राणहीन, निस्तेज देह को जीवन नया मिला हो।
कहने लगे, 'गृहागत, ऐसा मिलना बहुत ललित है,
एकाकी यह पत्रहीन तरु कैसा पुष्पकलित है;
नहीं जानता, मन में कब से कैसा भाव जगा है,
रोम-रोम हो चन्दन का वन; ऐसा मुझे लगा है,
और वनों में सिहरन-सिहरन, यह रोमांच अकथ है,
यह भी नहीं जानता, इति क्या, जिसका ऐसा अथ है!
ऋत्विक कहिए, इस विद्या को जान, कहाँ से पाए?
क्या कोई साधक है ऐसा, मुझको भी बतलाए?'
और जानती हो, पगली, फिर वही-वही वह बोले,
जिसको कहते उन्हें सुना था सपने में; रस घोले!

अनंगिनी

जान गई, अब बचा भला क्या, पर आगे की बोलो,
कोई और सुने न बातें, इधर जरा तुम हो लो!

(रतिसेना कुछ और निकट हो जाती है)

हाँ, अब कहो, नया क्या तुमने ऐसा पाश चलाया,
क्षण में ही बँध गया अवश मृगशावक, निकल न पाया।
ऋषिकुमार ने जब विद्या की बात उठाई होगी,
'मेरे आश्रम चलो!' कहो न, अब तुम यही कहोगी?

रतिसेना

क्या कहती तब, और रास्ता कोई कहाँ बचा था,
यह सब करने को पहले से मैने व्यूह रचा था।
कहा, 'कलाएं, विद्याएं सब मेरे आश्रम पर ही,
ऋत्विक, मेरे आश्रम को समझें बस अपना घर ही।
साथ चलें, गंगा के तट पर मेरा आश्रम इस्थित,
जो विद्याएं देखीं मेरी, वे सब वहाँ व्यवस्थित।
अभी आपने अधिक कलाएं देखी कहाँ हैं मेरी,
बिना वाण हिरनी बँध जाती, ऐसा मंत्र अहेरी;
सूखी रेतों में चाहे तो कुसुम खिला सकती हैं,
चुटकी में चाहे तो भूतल-व्योम मिला सकती हैं।
लेकिन मेरे आश्रम पर ही ये संभव विद्याएं,
शून्य प्रांत है, जहाँ न कोई बंधु कोई न बांधव।
कहने भर की देर कहो बस; मैं आगे, वह पीछे,
अब हमदोनों थे ढलान से गंगा तट पर, नीचे।
चढ़ने भर की देर कहो बस, खुली नाव हौले से,
ऋषिकुमार को देखा मैंने, नेत्र अभी मौले-से।
मुझे देखते रहे, उसी मुद्रा में, विमुख सभी से,
रोमनगर तक आ पहुँचे बिन बोले कहीं किसी से।
तब भी ऋत्विक तन्द्रा में थे, सब बातों से विस्मृत,
कब गंगा तट पर उतरे थे, हम सब रहे अचंभित।
क्या अचरज था, नाव लगी थी जैसे कंचनतट पर,
काले मेघों से घिर आया सूना-सूना अम्बर,
और चरण पड़ते ही अन्तःपुर में ऋषि नव वय के,
गूंज उठे स्वर नवल सृजन के, जीवन के, अक्षय के!
उड़तीं रेत, घटाएं बनकर बहने लगीं नदी बन,
राजहंस बन तैर रहा था रोमनगर का तन-मन!

वसंतसेना
तट पर वे उतरे, तो सीधे राजभवन ले आई?

रतिसेना
कैसी बहकी बातें तुम करती हो; क्या बौराई?
सीधे राजभवन ले आती, तो फिर भेद खुला था,
ऊपर आता फेन, वही जो जल में मिला-घुला था;
इसीलिए ऋत्विक को पहले आसनगृह ले आई,
चाह रही थी राजभवन की पड़े नहीं परछाई।
आसनगृह से कदलीगृह, फिर लतिकागृह में डेरा,
लतिकागृह से कुसुमभवन, फिर मोहनगृह का फेरा।
सोल्हो मैं शृंगार से सजी आती रही सँवर कर,
जिसके वश में देव-असुर तक, उसी रूप को धर कर;
तब जाकर कुछ भेद समझ में आया था ऋत्विक को
और नहीं तो मुश्किल ही था सुनना कंचन पिक को!

अनंगिनी
मुश्किल? क्या कहती हो तुम यह, वह भी जो रतिसेना;
जिसको कामपताका से भी कभी नहीं कुछ लेना।
किससे कम है? सुरदत्ता से? वह भी लोहा माने,
इसीलिए तो राजाज्ञा से वह थी गई बुलाने।
तुममें जो है गीत-नृत्य, रतिज्ञान, वचन-कोमलता,
कहाँ किसी में? सुरदत्ता में जितनी रहे धवलता!
सुरत ज्ञान में, केलिकला में कामपताका कम है,
रतिसेना तुम अगर कहाती हो, तो इसमें दम है।
पान-मान की बात नहीं है, आलिंगन-भ्रूचालन,
तुमसे ही तो काम-पताका का साम्राज्य विभावन।
भला एक ऋत्विक का क्या है; रतिसेना का चुंबन
कितने वेदपाठी ले आए, रोम नगर ही गनगन।
(हँसती है)

सोचो, रतिसेना यह तुम पर राजकोष का व्यय क्यों?
आगे-पीछे सौ गणिकाएं, इतने लगे विषय क्यों?
तुमसे ही शृंगार कला का, तुमसे सुर-सरिता है,
तुमको छू कर चली हवा जो, उसमें भी कविता है।

रतिसेना

रुको, रुको, चारण का आसन खाली ही रहने दो।
बची हुई जो बातें अब भी, उसको तो कहने दो!

अनंगिनी

अब क्या कहना शेष रहा है, शेष समझना क्या है?
रत्नाकर को उलट गई हो, बची हुई कुल्या है।

राका

रुको, अभी भी एक प्रश्न है शेष, उसे सुलझाओ,
यह अकाल ऋषिशृंग हरेंगे, कारण क्या? बतलाओ!

नवनीता

क्या सचमुच ही चाह रही हो, इस रहस्य को जानूं,
या फिर यूँ ही पूछ लिया है, इतना ही मैं मानूं।

राका

ऐसा नहीं कहो पगली तुम, गुरुआइन हो मन की,
मैं तो ठहरी जीव मात्र, तुम रखती थाह मगन की,
फिर भी ऐसा प्रश्न तुम्हारा ? कुछ भी समझ न पाई;
मेरे मन के अंधियाले की मेरी सखी जुन्हाई।
छोड़ो हँसी ठिठोली! मेरी शंका को निर्मूलो;
सखी, बिना जाने क्या हूँगी, यह भी तुम मत भूलो।

नवनीता

राका, सिद्ध युवक हैं शृंगी, अक्षत काम-करों में,
विपुल शक्तियां आ जाती है, ऐसे सिद्ध नरों में;
चाहे तो कुछ भी कर डाले, विवश प्रकृति है लगती
अमृत देती पावस जो, वह भीषण आग उगलती।
जानी है यह बात, उध्वरितस होता जो तापस,
उनके मानस-नभ पर कैसे घिर सकती है पावस ?
अपनी ही ज्वाला के घर में विचरण करते, सोते,
सूख चुका होता सब रस है, उष्मा ढोत-ढोते;
अगर किसी विध उनका वह मन धरती को छू पाए,
नभ तक उठते हुए अनल पर घोर घटा लहराए,
तो संभव है, ब्रह्मचारी का अनल मेघवन बरसे;
भाग चले दुर्भिक्षव्याल यह, अब तक जमा, विवर से।

राका

ब्रह्मचारी का अनल शांत हो, पावस से शीतल हो;
जहाँ आग की लपटें ही बस, वहाँ हिमानी जल हो;
यह तो रतिसेना, नवनीता बिना असंभव ही था,
सब कुछ समझ गई मैं अब तो, शेष कहा नवनीता।
भेद बताने का तुमने क्या सुन्दर पंथ निकाला,
अब प्रभात के आनन से है दूर हुआ अंधियाला।

(हँसती हुई)

वसंतसेना

ऋषिकुमार को लेकर तुम सब चाहे जो कुछ कह लो,
अनुमानों का सिंधु बहा कर जितना चाहो बह लो;
पर इससे भी कटना मुश्किल; कितने सौम्य-सरल हैं;
सभी विकारों से ऊपर हैं; सचमुच अमल-धवल हैं।

नवनीता

कारण है, वह हवा नहीं छू पाई, जिसको छू कर
प्राण व्योम पर घूमा करते, निकल रंध्र से बाहर।
हाय, युवा शृंगी की सचमुच कितनी करुण कथा है,
वंचित रहे स्नेह से माँ के, कैसी घनी व्यथा है;
ऋषि विभांडक भी ब्रह्मचारी, कठिन योग के साधक,
प्रेममार्ग के मुद-विषाद सब जिनके पथ के बाधक,
लेकिन कब अप्सरा मानती नियमों के बंधन को,
आ जाती है अचला पर ऐसे ही छोड़ गगन को;
बस विनोदवश रीझ गई, तो योगी तक रिझ जाते,
मरु में देखा है मैनें तो सागर को उफनाते।
हमसे अच्छी कहाँ अप्सरा, बंधती नहीं किसी से,
स्वर्गचारिणी को कैसे हो मोह भला अवनी से!
माँ बनती है बस विनोद में अक्षत कोख कुमारी,
ऐसी सुकुमारी का भू पर कौन भला अधिकारी ?
प्रसव हुआ ज्यों ऋष्यशृंग का, हुई अप्सरा ओझल,
लेकिन टूटे नहीं विभांडक ऋषि भी, हुए न टलमल;
शिशु-रक्षा कैसे हो, रहते इसी सोच-संचय में;
गिरि का अन्तस फोड़ बह चला निर्झर कलकल लय में।
नहलाते, फिर केश गूँथते; जैसे शृंग हिरन के,
इसीलिए तो ऋष्यशृंग हैं चंपा, अंग, भुवन के ।
झुका हुआ था पर्वत, शिशु की रक्षा में नभ बन कर,
हर संकट, हर विघ्न के लिए मंत्रसिद्ध ऋषि तन कर।
क्या रहस्य है, जो धरती है रस से भरी-भरी-सी,
वही सूख जाती है ऐसी; जैसे, कोई शिला ही,
और वहीं पर हृदय खोलकर गिरि अमृत बन जाता,
जीवन की गिरती पुकार को प्राणों पर सहलाता,
फिर भी नारी किसी तरह से कम तो नहीं पुरुष से,
दूर-दूर रहना ही चाहे बिखरे हुए कलुष से।

बादल की बूंदों को धारण करती जब धरती है,
उग आते हैं नये वृक्ष, सौरभ से जग भरती है।
बहती रहती हैं नदियाँ रेतों को जीवन देतीं,
एक दान ही तो सीखा है, बदले में क्या लेती!
नारी तो है कमल, पंक भी जिससे शोभित होता,
छाँह नहीं होती, तो कितना जेठ अभागा रोता!
कोई अन्तर नहीं, भले ही रंभा इन्द्रसभा की,
आखिर हमसब सन्तानें हैं उसी अप्सरा की ही;
जिनको पुरुषों की बाँहों से संबल ही मिलता है;
कीचड़-काई कहे; बिना वह कमल वहीं खिलता है!

राका

सार रूप में यही कहो, हमारा जीवन पारस-दिन है,
जैविक महा महोत्सव से बच पाना बहुत कठिन है।

(सम्मिलित हँसी)

(पटाक्षेप)

द्वितीय अंक

(वनस्थली के बीच एक कुटीर । कुटीर के बाहर ऋष्यशृंग
और शांता दो सुगढ़ित शिलाखंड पर बैठे संवादरत हैं)

शांता

लौट कर मधुमास आया रास-रंग को साथ लेकर,
जो गया आषाढ़ में था, सौंप सुख को, मोद देकर,
और भी उल्लास लेकर आ गया है, क्या बताने?
आ गई सुधि उस विगत की आज फिर से इस बहाने।
तीन संवत्सर हुए, जब आर्य का था साथ पाया,
उच्च स्वर में उस कथा को, आज रितुपति ने सुनाया।
लग रहे किंशुक हैं कैसे; चोंच शुक के बस दिखे ज्यों,
डालियों पर यत्न से हो प्रेम के अक्षर लिखे ज्यों,
रमणियों के चुम्बनों की छाप छूटी डालियों पर,
ढाक के फिर खुल गये हैं बेसुधी में पत्र-अम्बर।
हो रहा भ्रम, वाण को कन्दर्प ने साधा हुआ है,
मल्लिका के साथ मिल कर प्राण का व्याधा हुआ है,
और वह पीछे से कैसा वकुल का कुल हँस रहा है,
दूर से ही कानों में चुपके से जिसने कुछ कहा है,
हाँ, यही उसने कहा कि क्या कथा पूरी न होगी,
इस मदिर मधुमास में भी? अनसुनी वह कब सुनोगी?

वह कथा जो बीच में ही छुट गई थी; है अधूरी,
आज क्यों मन चाहता है, जान लूँ पूरी-की-पूरी!
किस तरह से आर्य-मन को बाँध पाई नृत्यबाला?
किस तरह जंजीर साबित हो गई थी पुष्पमाला?

ऋष्यशृंग

ठीक ही तुमने दिलाई याद, सुधि से कट गया था,
क्या बरसता मेघ सूखा, आके जैसे छँट गया था;
मैं उसे फिर से उठाऊँ, जान लूँ यह भेद गोपन
क्यों नगर लाया गया इस भाँति, ऐसा क्या प्रयोजन?
पूछना तो उस समय ही चाहता था, चुप रहा था,
पर तुम्हीं ने कब बताया था मुझे, वह कब कहा था?
स्यात कहने में तुम्हारा कुछ अहित हो, भय रहा हो;
कर गुणा फल और मन ने चाहकर भी न कहा हो।
इस अधर पर किसलिए मुस्कान ? कैसी है पहेली?

शांता

कब बताती, कब रहे ऐसे अकेले? मैं अकेली?
जिस तरह कि आज संध्या से ही हैं, हम साथ ऐसे
क्या छिपाऊँ आपसे ही, अपशकुन के कोई भय से!
चाहती थी मैं बताना, पर मिला अवकाश ही कब?
मेघ से छाया रहा ही; यह खुला आकाश ही कब?

ऋष्यशृंग

तो यही अवसर है कह दो, अनकहे सब गुण-शगुन को,
जान लूँ मैं आज सब कुछ, जो रहे अज्ञात; उनको।

शांता

स्वामी सुनिए तात मेरे हैं दयालु, देवता-से,
बस प्रजा-हित साधना है, दिव्य ऐसी दिव्यता से।

लोकमंगल के लिए स्वीकार सारे भी अमंगल,
सूर्य बन कर तप रहे हैं कि खिले सब बंद उत्पल;
क्या हुआ कि एक दिन कोई कृषक आया भुवन में,
आँधियों के वेग को तन से उठाए और मन में;
पूछने पर रो पड़ा, फिर इस तरह कहने लगा वह,
'व्यर्थ सब होने लगा है, देव! अब तो रतजगा वह।
रात में क्या, दिवस में भी उपज को है रौंद जाता,
कुंजरों के झुंड से हैं खेत के सहमे विधाता।
रौंद कर भदई गया, अब अगहनी पर है प्रलय-सा,
आज तक देखा नहीं था हाल धनहर का ये ऐसा;
टूट कर बिखरे हुए हैं धनकियारी में ही झंपा,
तुलसीमंजरी, वासमति के बिन हुई श्रीहीन चंपा।
फिर उखारी की कहूँ क्या! हो गई जो दुर्दशा है,
चाँदनी जिस पर छिटकती थी, उसी पर तम निशा है।
मुरली, पनसाही, केतारा, फिर रहा कुसिहार ही क्या,
मनगो, हरगौरी, बरौखी के बिना आकाश फीका।
और कुंजर; शैल के चलते शिखर-से, आ धमकते,
दाँत जिनके बादलों के बीच में विद्युत चमकते;
लाठियों या बर्छियों से भागनेवाले कहीं ये?
दैत्य हैं, गजरूप धर कर; सच कहूँ मैं गज नहीं ये।
क्या लिखा है भाग्य में, अब क्या कहूँ, इसका पता क्या,
हार कर आया शरण में, और आगे रास्ता क्या?

ऋष्यशृंग

यह तो सचमुच में कृषक के साथ था अन्याय, विधि का,
चुप रहे कैसे प्रजा फिर, हो रहा जब नाश निधि का!
क्या किया फिर तात ने ?

शांता
आदेश तत्क्षण ही दिया था,
जो जहाँ थे खेतिहर, आश्वस्त सबको ही किया था।
आ गये आदेश पर थे कुशल शिक्षित सौ महावत
पकड़ लाने कुंजरों को दिख रहे थे सभी उद्धत।

ऋष्यशृंग
कर सके उन हाथियों को वे महावत क्या नियंत्रित?

शांता
बँध गये थे बेड़ियों से कुछ क्षणों में; भाग्य-वंचित!

ऋष्यशृंग
क्या नगर में ही रहे सब? रह गये? छोड़ा न उनको?

शांता
बस यही तो भूल सबसे हो गई, चिंता थी किसको?
जो कि गिरि-वन में विचरते हैं, भला बँध कर रहेंगे?
स्यात मेरी बात को कुछ लोग हों, अनुचित कहेंगे;
भूख से निर्बल हुए वे भीम-से गजराज सारे;
जी रहे थे देह में संचित बलों के ही सहारे;
गाल के गड्ढे नयन में, पेट सबके झुल गए थे;
बेड़ियाँ ऐसी बँधी थीं, घाव सबके खुल गए थे।

ऋष्यशृंग
हाय, यह तो वन्य जीवों के प्रति अनुचित हुआ था!

शांता
इसलिए तो इस नगर का भाग्य भी शापित हुआ था!

ऋष्यशृंग

कुछ नहीं समझा, कहो फिर। शाप! वह भी अंग पर ही;
मृत्यु के हाथों मरेगा किस तरह बोलो अमर ही?

शान्ता

पर हुआ यह। काप्य ऋषि को जब मिली थी सूचनाएं,
जग गई थीं शोक के संग क्रोध की सौ भावनाएं।
हस्ति के जो वैद्य ऋषि हैं, हस्ति के रक्षक, विधाता,
कुंजरों की सुन व्यथा को क्यों भला न क्रोध आता?
तमतमाते आ गए थे; सन्न सारे थे सभासद,
दौड़ती थी उस समय बस शांति-व्याकुल और त्रासद।
थे उठे ही तात आदर को सिंहासन से, विनत हो,
पर यतिन् थे तमतमाए सारी बातों से विगत हो।
तात कुछ कहते कि कहने लग गए थे क्रुद्ध ऋषिवर;
काँच से टकरा रहे थे तेज गति से आए पत्थर,
'नृप, तुमने क्या किया, बंदी बनाकर कुंजरों को,
बंदीगृह में डालकर स्वच्छंदजीवी वनचरों को;
इसलिए कि इच्छुदंडों को निचोड़ा, खेत रौंदे?
बेड़ियों में जो पड़े हैं विवश आँखें-सूंड, औंधे।
वन के जीवों का प्रताड़न राज्य से हो, न्याय है यह?
धर्म के विपरीत पथ का ही खुला अध्याय है यह!
फिर उगेंगी, कट गयीं जो, क्या है भदही क्या अगहनी,
पर वनों के जीव भी क्या? बात होगी क्या ये कहनी!
क्षम्य कैसे, वनचरों को इस तरह से दंड दे जो?
क्या उचित है, पुण्य की कुसुमित धरा पर पाप भेजो?
और फिर जो शक्ति का सम्राट, बल का देवता है,
राज्य की रक्षा में जिसके प्राण जगते हैं, पता है?
अंग की सीमा अडिग है, तो कहीं गजराज भी हैं;
पूर्वजों के युद्ध में पर्वत बने जो, आज भी हैं।

पोखरों-झीलों की चम्पा, जो लुभाए कुंजरों को,
इस तरह से दंड देना शोभता है क्या नरों को?
जो सिंहासन के हों रक्षक, इस तरह से दंड देना,
यह तो आमंत्रण विपद को; पाप को है साथ लेना।
बुद्धि-बल से जो प्रजाहित-राजहित में लाभकारी,
रोम के ही राज्य में अन्याय उन पर आज भारी!
रोम! उनकी शक्तियों को कुछ नहीं तुम जानते हो,
सूँड पर शक्ति उछाले; भेद क्या पहचानते हो।
जिस तरह से बाँध कर इनसे कमाया जा रहा है,
क्या कहूँ नृप, किस तरह से क्रोध मुझको आ रहा है।
अंगभूपति, मेरी आँखों में विधर्मी आज हो तुम,
नृप, तुमने जो किया अपराध उसका दंड लो तुम!
जिस फसल की हानि पर यह सब हुआ; अब शाप मेरा,
अंग के उठते दिवस पर हो अमावस का अंधेरा!
मेघ तो छाए, नहीं पर वृष्टि हो; सब खेत सूखे;
हो उखारी-धनकियारी, गीदड़ों का झुंड भूके!

ऋष्यशृंग
हाय, यह ऋषि-धर्म के विपरीत ही ऋषि का वचन था।

शान्ता
आर्य, उस क्षण जड़ बने दिक्-काल ही थे; क्या भुवन था?
थे उपस्थित उस सभा में श्रेष्ठ ऋषिवर, वे भी भौचक,
ये कहाँ सोचा था, ऐसे क्रुद्ध होंगे काप्य औचक!
क्या भृगु, अरिभेद, गौतम, रह गए सब सन्न ऐसे,
एक चिन्ता; काप्य को अब कर सकेंगे शांत कैसे?

ऋष्यशृंग
हो गए होंगे तो निश्चित शांत उनको जानता हूँ,
वह पिता के मित्र, मेरे, सब तरह पहचानता हूँ।

उनका आश्रम है इधर, सौ बांस पहले, फिर पिता का,
इस तरह जानो कि जैसे पंख दो हों, इक बलाका।
कुंजरों के वैद्य हैं श्रीकाप्य, यह तो विदित जग में,
बात होती इस कला की, क्या नरों में ही? विहग में।
जो भी हो, यह तो कहो फिर क्या हुआ आगे? सुनाओ!
दिख रहा उस ओर है कुछ झुरमुटों में, ठहर जाओ !

शांता
शार्दुल मुझको दिखा था।

ऋष्यशृंग
हाँ, उसी की दिखी छाया।
तो, कहा क्या आगे ऋषि ने, वह नहीं तुमने सुनाया?

शांता
कह उठे भृगु और गौतम, शांत हो अब चित्त फेनिल!
मेघ से शीतल गगन हो, झर झरे रसधार स्नेहिल!
और सचमुच छा गये थे शांत नभ में श्याम बादल,
लग रहे दोनों नयन थे मेघ से भीगे हैं शतदल;
सोच कर कि हो गई है आज मुझसे भूल भारी,
तीर से हो छेद डाला हिरण-शावक को, शिकारी।

ऋष्यशृंग (बहुत विचलित हुए-से)
क्या कहा था? रुक गई क्यों?
सोच कर किस बात को तुम इस तरह से झुक गई क्यों?

शांता
आर्य, मैं आगे कहूँ, कुछ आप कहिए, मैं भी जानूं,
मानता जिसको नहीं मन, यह हुआ था; आज मानूँ।

नाथ से ही आज सुनना चाहती हूँ, क्या हुआ था?
फूल की मधुगंध से ही बंध गया उड़ता सुआ था।
कौन-सा संगीत सुन कर रुक गई थी गति पवन की?
गुदगुदाती आज भी क्यों शांत क्षण में याद उनकी?
क्यों अचानक देह सिहरी नाथ की? न मौन रहिए!
मैं कहूँ आगे की कुछ भी और, पहले आप कहिए!
आज क्यों फिर चाहता है मन उधर को झांक आएं,
हेम के दिन, मोद-मणियाँ बह गईं जो, छाँक आएं!

ऋष्यशृंग (हल्की मुस्कान के साथ)
क्या उसे अब याद करना, जो वहाँ जो भी हुआ था,
केतकी की सुरभि से संपर्क कैसा अनछुआ था।
हाँ मुझे है याद, उस दिन साँझ को आए पिता जब;
मैं नहीं हूँ शांत अपने चित्त से, ऐसा लगा जब;
पूछने वह लग गये थे, 'क्या हुआ ? मन यूं अमन क्यों?
सब तरह से राशि जब अनुकूल तब ऐसा गहन क्यों?
क्या किसी की प्रेत-छाया आ गयी थी घूम-फिर कर?
पुत्र, यह तमग्रस्त अपने चित्त को अब तो मिहिर कर!
कुछ कहो, एकांत पाकर क्या किसी ने छल किया है?
इस तरह से चेतना को कौन है, जो हर लिया है?
मैंने तब उनसे कहा था, 'तात, जो देखा, कहूँ क्या!
मन में है सागर उमड़ता, देह पर बहती है कुल्या।
वेदपाठी उस युवा का रूप था सचमुच अलौकिक,
है कठिन सब कुछ बताना, हो भले कायिक या वाचिक।
चन्द्रमा पर सूर्य की किरणें जमी थीं, रूप दपदप;
आँख की इस्थिर मछलियां; कुछ न चंचल, कुछ न छलछल;
थी घनी धनराशि से मिलतीं बहुत उसकी जटाएं।
कौंधती थीं उस हँसी में दामिनी की सौ कलाएं!
बिल्व-फल के बीच से उठती हुई कंचनलता वह,
था नियंत्रित; ले उठा जाती मुझे ही अन्यथा वह।'

यह सुना, तो तात ने समझा, है निश्चित प्रेत-माया,
तीन दिवसों तक रहे दिन भर, मुदा न प्रेत आया,
हो गये निश्चिंत, निकले फिर कृमि-तट पर अकेले,
फिर वही गंगा के तट से थी हवाएं सुरभि ले-ले;
फिर वही सम्मुख था ऋत्विक, मेरी मतिजड़ता वही फिर;
देह तो चंचल मेरी थी, साँसे पर रुकती-सीं इस्थिर।
जो कहा, इतना कहा, क्या देह के आसन नये कुछ ?
ये नये मिष्ठान्न के भी स्वाद तो अद्‌भुत लगे कुछ!
जानती हो, क्या कहा, 'आश्रम मेरा गंगा के तट पर,
प्राप्त सब कुछ हो सकेगा उस जगह पर साथ चलकर।'
और मैं बेसुध चला फिर नाव का आश्रम जहाँ था,
उस समय मति के लिए अवकाश ही कुछ भी कहाँ था!
याद है पर, छा रहे थे मेघ पिछले दो दिनों से,
मिल रहा संकेत था जिसका मुझे पागल वनों से;
चातकों के, दादुरों के बोल; जैसे, हाँक देते;
कुछ कहाँ अनुकूल था उस काल में, जो चेत लेते?
चौकड़ी कस्तूरियों की, मोर थे गर्दन उठाए,
और फिर-फिर कुंजरों का शोर, घन को ज्यों बुलाए;
छा रहा था उस समय से मेघ उत्तर की दिशा में;
बिजलियों की कौंध से नींदें उचटती थीं निशा में;
क्यों न होता, चैत भी बैशाख जैसा ही तपा था,
वृष्टि का संकेत जो नभ-भूमि पर पहले छपा था।
नाव से नीचे पड़े ज्यों पाँव, घन भी आ घिरे थे;
सिंधु जो नभ में छिपा था, उस घड़ी तक आ गिरे थे।
चेतना लौटी, तो तुम थी, बोध की सारी विभा ले,
देहधारी धीर नर के ज्ञान अर्जित को बहा ले;
जान पाया नारी-नर का भेद पहली बार तुमसे;
बज उठा था देह में कुछ अलग-सा ही गीत छुम से।

शांता

उस समय भी एक भय से थी मलिन यह देह मेरी,
पूर्णिमा की रात लगती थी बहुत गुजगुज अंधेरी।
चल पड़े ऋषिकुंड से हैं कुपित होकर श्रेष्ठ ऋषिवर,
सिंधु की क्या शांत लहरें, रेत के भी रोम थरथर।
ठीक जैसे काप्य ऋषि के क्रोध से दिखती सभा थी,
इस कथा से भिन्न कुछ भी है नहीं पहली कथा भी।
याद आया, उस समय श्रीकाप्य ने जो भी कहा था,
शांत मन से क्या सभासद्, मालिनी भर ने सुना था।
हो गया था शांत क्रोधावेग ऋषि का ऋषि-वचन से,
झर पड़े जब मेघ काले जेठ पर नीले गगन से।
शांत प्रायश्चित में कहा, 'दुर्भिक्ष का तब अंत होगा,
जब विभांडक-पुत्र को चंपा-विपद का तंत होगा।
पर कठिन यह कार्य है, गिरि को हिलाना क्या सरल है?
जो विभांडक के हृदय में पल रहा जो, वह अटल है।
आप सब भी जानते हैं ऋषि विभांडक की कथा को,
अप्सरा का छोड़ जाना, पुत्र-रक्षा की व्यथा को;
रूप की वह राशि ऋषि पर छा गई तो छा गई थी,
अप्सरा थी वन की कन्या इस तरह से भा गई थी;
दूर था तप, वेद-वाचन, ध्यान में बस रूप छवि की,
बढ़ रही थी, घट रही थी निशि-दिवस में ज्योति रवि की।
रूप के रस-रंग में डूबे विभांडक-मति—विपथगा,
जब उठीं किलकारियां, तो मुग्ध ऋषि का स्नेह छलका,
हो गई थी कामदेवी किस गगन-वन में तिरोहित,
शोक में व्याकुल हुए थे काम के वश भ्रांत-मोहित;
कर लिया संकल्प, वामा से रखेंगे दूर शिशु को,
खेलने को छोड़ देते सिंह-शावक, वन्य पशु को।
अब किशोरावस्था में वह वेदपाठी, वह वियोगी,
कामरति के वास्ते तो दूसरा ही वह पिनाकी।

सच यही है, मानता ही वह नहीं है, सुरभि क्या है,
अमय-वर्षा, और क्या मकरंद होता, सुरति क्या है?
जो चरण उस वेदपाठी का पड़े चम्पा महल में,
तो यही बस मानिए, चौमास ढलमल है कमल में।
पर विभांडक-कोप की भी सुधि रहे जो वनहुतासन,
जिससे क्षण में राख होगा राज्यशासन, क्या सिंहासन,
और सौ से भी अधिक हत कुंजरों को वह लिए ही,
बढ़ गये अजगैवीपुर थे, नृप को चिन्तित किए ही।
यह पिता की नीति ही थी, आर्य का संयोग पाया,

ऋष्यशृंग
इसलिए तो है घटाओं से तपिस का नभ अघाया!

शांता
हाँ, नहीं तो कौन जानें क्या कभी चम्पा अघाती,
आज जैसी बह रही गंगा ये, चानन सरसराती,
किस तरह से दूब के भी पंख उड़ने को हैं व्याकुल;
चेतना से देह तक कचनार, चम्पा और अड़हुल!
बीतने को वर्ष कितने, पर रुका मधुमास जम कर,
किस तरह से दूर है बैठा शिशिर, कैसा सहम कर।

ऋष्यशृंग
मैं शिशिर को, ताप को सहता रहा हूँ, नाम मत लो!
चैत का वरदान जो बरसे मुदिर-सा, वह विनत लो!
फिर किसी के शाप से न अंग पर बैशाख बरसे,
इस तरह हरसे यह चम्पा कि अखिल ही सृष्टि हरसे!
योग हमदोनों का बहता ही रहे बस यूँ ही कलकल;
देखता हूँ मानसर में खिल रहे हैं कोटि शतदल!
आओ शांते, सृष्टि का सुख यूँ न हमसे छूट जाए
दृष्ट जो अवसाद में है, मोद से वह खिलखिलाए!
(पटाक्षेप)

तृतीय अंक

(राजभवन के अंतःकक्ष में अलग-अलग सिंहासन पर रोमपाद और दशरथ गंभीर मुद्रा में आसीन)

रोमपाद

अब एकांत में हमदोनों हैं; बंधु, कहो सब बातें,
देख रहा हूँ, आँखों में जागी हैं कितनी रातें;
जिन आँखों में मणि की आभा नीलम ले सोती थी;
हँसी तुम्हारे आनन पर ही रोमांचित होती थी;
यह क्या हुआ कि उस आनन पर संध्या की छाया है,
सच-सच कहो, मित्र! क्या सच यह? या मिथ्या-माया है?
क्या भविष्य की कोई चिंता तुमको घेर रही है?
क्या है वह विपदा, ललाट पर कर को फेर रही है?
मेरा यह चतुरंग सैन्य-बल किसके लिए भला है,
सुर की शक्ति-आँच में यह तो सालों-साल ढला है;
जो आदेश करो, तो इसको रण में अभी सजाऊँ,
देखा तुमको अवधेश्वर है, अवधेश्वर-ही पाऊँ!
मित्र, तुम्हें अपने संग पाकर आज मोद जो पाया,
मन-सरसिज ही खिला हुआ है, वह था जो कुम्हलाया;
उमड़ चली हैं कितनी-कितनी सुधियाँ विगत दिवस की;
ज्यों सुगंध ही तैर रही गर्मी में भीगे खस की!

वह आखेट वनों में कैसा करता था उत्साहित,
सहसा उसकी सुधि आई, तो मन कितना उन्मादित!
चंपा से सरयु तक अपना सुख कैसा विस्तृत था,
कहाँ कोई भी विघ्न देखकर मन चंचल, विचलित था।
लगता था पूरा ब्रह्माण्ड ही अपने लिए बना है,
जो कुछ भी है अखिल सृष्टि में, सब कुछ ही अपना है।
तुम आए, तो गया वयस फिर लौट चला आया है,
क्या बतलाऊँ तुमको पाकर, मैंने क्या पाया है!
कहीं राह में हुई नहीं न, कुछ भी तो कठिनाई?
आने का संदेश दे दिया होता मेरे भाई।
साधू-संन्यासी-सा आए, इस पर निपट अकेले,
साधू भी चलते हैं अपने साथ लिए कुछ चेले।
सूने पथ, जंगल, निशिचर का कुछ खयाल तो करते,
अच्छा होता, साथ लिए मंत्री को यहाँ उतरते।
जो कुछ हुआ, हुआ; अब बोलो राज-काज, शासन का,
सुख से बीत रहा तो है न, जीवन राजभवन का?
कहो मित्र, कौशल कैसा है? सब तो क्षेम-कुशल है?
मित्रों का मिलना तो सचमुच सौ पुण्यों का फल है।

दशरथ

सच ही मित्रों का मिलना तो सौ पुण्यों का फल है,
इसीलिए तो शिशिर-काल में खिलता हुआ कमल है।
कल तुमने चतुरंग-जन्म की कथा सुनाई थी जब,
चंचल मन की तृषित कामना पर उमड़ा था आसव।
रुक न सका मैं, बोल गया मन संचित कर सब आशा,
खड़ी दिखी थी रूप लिए वह निराकार अभिलाषा।
तुमने भी सब जान लिया था, कुछ भी कहे बिना ही,
जो होता है बंधु-सखा, वह होता है ऐसा ही।
सब कुछ सच है, लेकिन मेरा पुण्य कहाँ उतरा है;
जिस फल को मैं चाह रहा हूँ, तक्षक का कुतरा है।

कल ही मैं संकेत कर गया था, जो मेरे मन में,
सब कुछ के होते भी मेरा कुछ भी नहीं भुवन में।
जान गये तुम अंधकार को, घिरा हुआ जो मन में,
लेकिन पूछा नहीं, वयस जब झुका शेष पर आकर,
भला कौन-सा सुख मिलने को पुत्रों को ही पाकर?
जबकि मन में चाह यही हो वानप्रस्थ के आगे
निकल चलूँ पाने असीम को, अब ससीम को त्यागे,
लेकिन मन विपरीत दिशा का पथिक बना चलता है,
पुत्र-काम का कैसा सरसिज मरु में यह खिलता है?

रोमपाद

स्वाभाविक है, आवश्यक भी, यह तो सर्वविदित है,
सब कुछ है, पर पुत्र नहीं है, कुछ भी कहाँ ललित है!
पुत्र नहीं, तो पितर भटकते रहते; मोक्ष कहाँ है?
पुत्रों के कारण ही पुरखों का सम्मान यहाँ है।
झेल चुका हूँ व्यथा गहन यह, कहना बहुत कठिन है,
छाती-बाँहों से लिपटी यह सर पर ही नागिन है।

दशरथ

मित्र, तुम्हारी बातें बिलकुल सही धर्मसम्मत हैं,
लोकधर्म के आगे तो ये तीनों लोक विनत हैं;
पर मेरी चिंता का कारण यही नहीं है केवल,
कुछ विशेष है, जिससे मेरा चित्त हो रहा चंचल।
ज्यों इस्थिर होता है क्षण भर, भय वह मिल जाता है,
रोमपाद, मैं सच कहता हूँ, दशरथ हिल जाता है।

रोमपाद

कैसा भय है, किसका है वह? कुछ भी नहीं छिपाओ!

दशरथ

बतलाता हूँ, बतलाओ फिर, समाधान जो पाओ!
तुम तो जान रहे रावण को, स्वयं को कहे दशानन,
क्यों न कहे, जब दशो दिशाओं में उसका ही शासन!
लंका का पति लंका से भी आगे बढ़ा हुआ है,
अब तो समझो विंध्य-शिखर पर जैसे चढ़ा हुआ है।
कब काशी-कौशल तक उसकी मुट्ठी में कस जाए,
क्या जानूँ लंकेश अवध में आकर ही बस जाए!
देख रहा हूँ आर्यभूमि पर छाई उसकी छाया,
लगता है इतना कुछ पाकर अब तक नहीं अघाया।
कुछ तो वह लाचार वयस से, कुछ कौशल का भय है,
मुझसे द्वन्द्व किया अबकी, तो हारेगा निश्चय है।
यही सोचकर मेघनाद पर ध्यान दिया करता है,
पुत्र पिता-सा; इसीलिए अभिमान किया करता है।
रोमपाद, यह मेघनाद जो रावण-सा निकलेगा,
हिमगिरि तक में कौन भूप है, जिसका भला चलेगा?
क्या बोलूँ, भयभीत किए ही रहता है भय मेरा,
दिन में भी आँखों के आगे छाया हुआ अंधेरा।
नहीं भूल सकता हूँ वह दिन, अपयश और व्यथा का,
देख सहम जाता मन अब भी विद्रुप रूप कथा का;
जाने किसके कहने पर लंकेश क्रोध में आकर,
लौट गया था, कौशल्या को नद में फेंक, बहा कर।
मिलना था, परिणय होना था; मिली द्वीप पर आखिर,
लेकिन मन का भय टूटा क्या? वह तो अब भी इस्थिर।
जान गया जो रावण, अब भी कौशल्या है रक्षित,
हो सकता है, प्राणों को लेकर हो जाए विचलित।
रावण का भय सच निकले ही, किसको कहाँ पता है,
यह तो वही जानता, सोरीघर में जो लिखता है।
कौशल्या का तनय हरेगा रावण-जीवन तय है,
ब्रह्मा का है कथन, तो होना भी उसका निश्चय है।

इसी कथन ने डरा दिया था रावण को भी ऐसे;
रावण का भय सता रहा है आज मुझे यह जैसे।
जो भविष्यवाणी सच निकले, तो फिर विजय-विजय है,
पितर-तृप्ति के साथ-साथ ही दशरथ-रिपु का क्षय है।
रोमपाद, तुम नहीं जानते कूटनीति रावण की,
जोड़ रहा है संबंधों को प्रांत-प्रांत में ताकि,
जो कुछ करे, विरोध नहीं हो, खुलकर मिले समर्थन,
बड़े लक्ष्य के लिए दशानन के नव परिणय-बंधन!
विंध्याचल तक आना-जाना उसका रहा बराबर,
क्यों न मानूँ विंध्यनिवासी खुश हैं उसको पाकर?
बात यहीं तक होती, तो यह बात नहीं कुछ होती,
और कभी निस्तब्ध निशा ही शंका नहीं पिरोती।
वह तो अब मण्डोर प्रांत के मन में बसा हुआ है,
उसकी प्रशस्ति में बनास का अंचल रसा हुआ है।
जब मय-पुत्री ही रावण की लंका की रानी हो,
क्यों न आर्य की विस्तृत भू का संकट में पानी हो?
समझ नहीं पाता हूँ, कैसा मोह उभर है आया,
सिंधु पार का वैभव सबके मन में हुआ समाया!
तोड़ रहे हैं संबंधों को, उनसे, जो अपने हैं,
स्वर्णद्वीप की आभा भर से कैसे तने-तने हैं।
बिछुड़ गये जो अपनी मिट्टी, पानी और हवा से;
जोड़ गये जो अपने को हैं कंचन-रजत-जुआ से,
आर्य-भूमि-हित सोचेंगे, कुछ भी विश्वास नहीं है;
होकर अपने पास भी वह तो अपने पास नहीं है।
अब मण्डोरे का पति पहले स्वर्णद्वीप-हितकारी,
भारत वैसा नहीं लगेगा, जितनी लंका प्यारी;
ऐसे तो साकेत ही नहीं, भारत ही उजड़ेगा,
आज कुसुम जो सुख देता, काँटों-सा वही गड़ेगा।
हो सकता है, अंग देश यह बच निकले रावण से,
रूद्रभक्त है, रूद्रभूमि यह; दूर ही रहे रण से।

रावण को मय-पुत्री ने पाया है रूद्र-कृपा से,
इसीलिए वह फेंक नहीं सकता है इस पर पासे;
पर सरयु के तट पर जो उसकी पदचाप मिलेगी,
ऐसे में क्या अंग देश की धरती नहीं हिलेगी?
तुम तो व्यस्त रहे होगे बस शासन-संचालन में,
यह क्या जान सके थे, बोलो, आग लगी है घन में?
झुलस गये हैं पंख पवन के, हिम में आग लगी है,
चाह, त्रिपुर में, मानसरोवर की वह विकट जगी है।
जड़ से ही कैलाश अचल को वह था लगा उठाने,
चाह रहा था स्वर्ग-लोक पर शासन इसी बहाने;
सब कुछ शिव ने जाना, तो वह लौट गये भद्रासन;
मंद्राचल जो हिमगिरि से भी अधिक पुरातन-पावन,
लेकिन त्रिपुरासुर भी एक दिन पहुँचा वहाँ अचानक,
आँखें ज्वालामुखी बनी थीं, मुँह से लपटें भक-भक!
गिरि के निकट पहुँचकर बोला, 'शंभु अगर हित चाहो,
अपनी प्रिया शिवानी को फिर दासी मेरी बनाओ!'
काँप गई थी सुनकर ही यह बातें बहुत शिवानी,
और निरंतर गरज रहा था नीचे वह अभिमानी।
वह तो शांत हुई थी तब ही, कहा शंभु ने जब यह,
पुण्यलोक को पाप हिलाए; कहाँ हुआ है? कब यह?
मंद्राचल कैलाश नहीं है, उससे है कुछ बढ़कर,
गल जाएगा गिरि पर चढ़ते, देखे तो वह चढ़कर।
सचमुच लौट गया था लेकिन गिरि तक आना-जाना,
दशरथ! तुमने त्रिपुर शक्ति को कभी नहीं पहचाना।
हिमगिरि के दोनों पंखों को जाने कब वह कस ले,
राजहंस को दायें-बायें या पीछे से डस ले;
ताने तीर करों में है, किस पर संधान करेगा,
किसी देवता का वर इस पर, ऐसे नहीं मरेगा !
उस पर यह है प्रिय सखा रावण का, सोचो तुम भी,
उसके सर पर हाथ रखा रावण का, सोचो तुम भी।

जो कैलाश हिला सकता है, कुछ भी कर सकता है,
चाहे तो वह सिंधु-सरयु को गिरि से भर सकता है;
तोड़ ग्रहों को उल्काओं-सा अचला पर बिखरा दे;
महाप्रलय, जो देखा है पूर्वज ने, वह फिर ला दे।
सबकी जड़ में रावण का विध्वंशकारी ही मन है,
यही सोचता, उसके वश में सागर, भूमि, पवन है।
अगर नहीं रोका जाता है रावण की इस गति को,
मुझसे श्रेष्ठ नहीं है कोई, अगति-लोक की मति को,
तो एक दिन क्या अवध, अंग भी भू पर नहीं दिखेगा,
जिस दिन कि दुर्भाग्य भरत की भू का भाग्य लिखेगा;
इसीलिए पुत्रेष्टि यज्ञ की चाह यहाँ ले आई,
मेरे अन्तस की पीड़ा को अब तो समझो, भाई!
व्यर्थ नहीं है शंकाओं से मेरा ऐसे बंधना,
ऐसा जाल कसा है जिससे मुश्किल लगे निकलना।
क्या होता है करने से अपने ही मन को धिक्-धिक्,
नद-सी लगती नदी कहीं से, शंकाकुल है नाविक!
भय-शंकाओं के विनाश के लिए यहाँ तक आया।

रोमपाद

आये नहीं, यही बस समझो, मैंने तुम्हें बुलाया।
कितना मैं भीतर से पुलकित आज तुम्हें हूँ पाकर,
मुझ पर ही उपकार किया है तुमने चंपा आकर।

दशरथ

क्या कहते हो रोम, ऋणी हूँ मैं ही बहुत तुम्हारा,
उपकारों को ढोते आया, अब तक कहाँ उतारा!
कैकेयी का वर-चुनाव वह; जैसे मुझे चुना था,
वहाँ उपस्थित राजाओं में कैसा क्रोध जगा था;
दश राजाओं ने मिलकर जब मुझको घेर लिया था,
तब तुमने ही विपद-काल में मेरा साथ दिया था।

अब भी वह दशराज्ञ-समर क्या सुधि से कुछ हटता है,
बंधु अगर हो, रोमपाद-सा; मन बरबस रटता है।

रोमपाद
मित्र, कहाँ से कहाँ आ गये, रुकना हमें कहाँ था,
चलो लौटकर उसी जगह पर, मैं भी, मित्र, जहाँ था।

दशरथ
यही विन्दु है, जहाँ मुझे आना था, कह लेने दो,
बरसों से जो बँधा हुआ है, खुलने दो, मत बाँधो!
कैसा था दशराज्ञ-समर वह, प्राणों पर विपदाएं,
तभी तुम्हारी चतुरंग सेना मेरे दायें-बायें!

रोमपाद (प्रसंग को बदलते हुए)
फिर चतुरंग ही नाम पुत्र का जी पर तुरत चढ़ा था,
चंपा होगा नाम पौत्र का, मन यह बोल पड़ा था।
फिर क्या था कि हुई मालिनी, चंपा जनमानस में,
जब भी याद उसे करता हूँ, भीगूँ मैं नवरस में।

दशरथ
रोमपाद, कह गये कहीं से तुम ही मेरे मन का।
गमक गया हो तुलसी-चौरा मेरे ही आँगन का।
मुझे पुत्र भी मिले, बली हो मेघनाद से बढ़कर;
करे काल का सर-भेदन जो, प्रलय शीश पर चढ़कर;
ताकि सुरक्षित रहे अवध यह मन्वंतर तक अक्षत,
उसके आगे महाप्रलय भी सिद्ध हो चले तृणवत्,
लेकिन यह तो तब ही संभव, जब हो साथ तुम्हारा,
अमृत बन सकता है क्षण में सिंधु-सलिल यह खारा।

रोमपाद

तो फिर कहो, मुझे क्या करना, निश्चित होगा, दशरथ,
उसे साधने में विलंब न किंचित होगा, दशरथ।
तुमने जो कुछ कहा, कभी न ध्यान गया था उस पर,
तब, जबकि संकट का बादल घिरा हुआ हो सर पर।
मित्र, कहो क्या करना होगा, क्या तुम चाह रहे हो?
शासन के संग प्रज्ञा के भी तुम तो नाह रहे हो!

दशरथ

पुत्र, पुत्र बस, और नहीं कुछ, सब तो मेरे वश में,
जिससे कि यह राज्य रह सके, सूर्य-वंश-तरकश में।
कहते हैं, संकट जब आता, बुद्धि कौंधती भी है,
वर्षा के रस-गंध मिले, तो समझो नमी-नमी है!
मेरे इस दुख का निदान तो मित्र तुम्हीं कर सकते,
मेरा अन्तस-गहन तमस यह, तुम्हीं एक हर सकते!
छोटे-से-छोटे विषाद का, सुख का ध्यान रखा है,
एक बार क्या, बार-बार ही तुमने मान रखा है।
भूला नहीं हूँ, वन में मेरी तुमसे भेंट अचानक,
निविड़ तमस में देवपुरुष ज्यों खड़ा लिए हो शायक।
सप्तभेदी शर-कला-ज्ञान को मैं संतप्त-विकल था,
ऐसा चित्त कभी तो मेरा, मित्र, नहीं चंचल था।
धनुष-ज्ञान का रोम विशारद, यह तो सर्वविदित है,
सप्तभेदी शर-कला-ज्ञान से केवल नहीं ललित है।
तुमसे कुछ भी नहीं छिपाऊँगा यह सच है, मानो,
उससे अलग न मिलनेवाला, चाहे जितना छानो।
एक व्यथा है, जिसे बताने तुम तक मैं आया हूँ,
जाने कितने वर्षों का वह शोक उठा लाया हूँ।
नहीं पुरुष मैं, जिसको नभ, रत्नाकर, दशों दिशाएं,
नमन किए चलती हैं ऋतुएं, शीतल-गर्म हवाएं;

मुझ पर जैसे उपहासों की छिपी-छिपी उत्पातें;
शुरु यहीं से होती हैं तब मेरे दुख की बातें।
दुख होता है, तो कितने दुख और उभर आते हैं,
मन के नील निलय में बैठे प्राण कुहर आते हैं।
सब कुछ है, संतान नहीं है, तो फिर मित्र, कहाँ कुछ,
बिना अस्थि के झूल रही हो ज्यों काया यह लुरपुच।
वंश-शोक से मुक्ति मिले, क्या कुछ निदान निकलेगा?
पर्वत मन पर पड़ा हुआ क्या चिंता से पिघलेगा?
यही सोचकर ऋषियों की मैंने थी सभा बुलाई,
उसी सभा में गुरु वशिष्ठ ने यह भी बात बताई,
जो कुछ कहा उन्होंने सब में, मुझसे सुनो, सुनाऊँ,
इसके पहले कुछ भी अपने मन की बात उठाऊँ।
कहा उन्होंने; 'वंश-शोक यह ऐसे नहीं हिलेगा,
बस पुत्रेष्टि यज्ञ ही पथ है, इच्छित सुफल मिलेगा,
और यज्ञ आसान नहीं यह, दुष्कर बहुत कठिन है;
दूर क्षितिज के मध्य झील में खिलता हुआ नलिन है।'
ऋषिवर गिना गये जितने ही लक्षण, मैं चिंतित था,
लगा उखड़ने धैर्य मेरा तो, जो कुछ भी संचित था।
मित्र, कहा राजर्षि ने यह; 'ऐसा वह ऋत्विक हो,
जितने भी हैं श्रेष्ठ भूमि पर, उनसे कहीं अधिक हो।
यह पुत्रेष्टि यज्ञ है संभव, ऐसा हो ब्रह्मचारी,
सौ बाहों के कामदेव पर; जैसे, काल कुठारी।
किसी त्रिया की चिंता न, या उत्सुक केलि-क्रिया को,
पाने की उत्कंठा ही कुछ मन में किसी त्रिया को,
ध्यान भी नहीं करता हो वह, भले गुप्त सब, ओझल;
जिसको अगर लुभाता हो तो बस प्रसंग ही कोमल;
वह ऋत्विक पुत्रेष्टि यज्ञ का कैसे हो अधिकारी?
ऐसा तो इस भरत खंड पर केवल वह ब्रह्मचारी।
अंग देश की चंपा के पश्चिम के दक्षिण-पश्चिम,
गंगा-तट से दूर नहीं है, बस थोडा-सा वंकिम;

ऋषि विभांडक के सुपुत्र ऋषिशृंग उन्हीं के सुत हैं,
रोमपाद के जामाता हैं, फिर भी पूर्ण अयुत हैं।
उनके हाथों ही हो सकता है संकट का मोचन,
अगर चाह है, अवध लगे फिर शीत-शिशिर-रवि-लोचन।
शांता, पुत्री रोमपाद की, भार्या है ऋषिवर की,
एक दिव्य कल्पना अंग में जैसे हो ईश्वर की!
ससुर रोम का अनुनय तो स्वीकार करेंगे ऋषिवर,
अब तक जो काया से मन तक; शुभ्र-शांत-सा अंबर!
अनुनय आप करेंगे उनसे, अपनी दशा बताकर,
रखना होगा हृदय खोलकर चंपा में ही जाकर।
सुनकर वचन द्रवित मन ऋषि का जलद बनेगा निश्चय,
बरसेगा जो पुण्य अंग में, अवध करेगा संचय।'
गुरु वशिष्ठ के ही विवेक पर अंग चला मैं आया;
मित्र, हृदय में जो कुछ भी था, वह सब कहा, सुनाया,
और सुनो, जैसे जाना था, ऋत्विक रोम-जमाता,
लेकर बस विश्वास, भ्रांति को मन से वहीं हटाता।
शांता के अतिरिक्त कौन है, दुर्दिन को हर सकती;
लगता सागर-मंथन से वह अमृत लिए निकलती!
तुमने तो संदेश भी नहीं, परिणय-पत्र पठाया;
वह तो गुरु से पुत्री का सौभाग्य जान मैं पाया;
शायद कुछ सोचा हो तुमने, तो फिर किया उचित ही;
खुल सकता था अवधराज का वह सब कथा-चरित ही,
जिसको अब तक दबा रखा है तुमने-मैंने जी से,
आने से इस अंग देश में बचता रहा तभी से।
अंग देश में पाँव पड़े, तो बीते दिन याद आए,
ले आया था काशीराज की पुत्री ब्याह रचाए;
इसमें भी सहयोग तुम्हारा ही था सबसे आगे,
पुश्तैनी बैरी से बंधन; पतले-कच्चे धागे!
और तात को ज्ञात हुआ जब, क्रोध अनल बन आया,
कहाँ नियंत्रण में था मन तब; सागर व्योम समाया।

भय ने था भयभीत कर दिया, क्या उपाय बचता था,
कैसा था वह काल; भाल पर व्याल-तिलक रचता था!
तब तुमने ही लाज रखी थी देकर शरण प्रिया को,
जान रहे थे, मैं, तुम, भाभी, पत्नी, गुप्त क्रिया को।

रोमपाद

सोचा था वर्षिणी बहन के पास रहेगी सुख से,
दूर-दूर ही रहा करेगी वह वियोग के दुख से,
लेकिन भरी रही आहों से, नाम हर्षिणी पाकर,
सोती, तो अपने अधरों से स्वामी-नाम लगाकर।
कुक्षिवती थी, उस पर भी जब हरपल बहुत असह हो,
लगता होगा उसको जीवन, वैतरणी की दह हो।
आँखों में उड़ते बादल थे, साँसों में आतप था,
प्राणों के हित कभी नहीं देखा कि कुछ भी जप था;
इस्थिति ऐसी, बहन वर्षिणी व्याकुल-व्याकुल रहती,
और किसी से क्या कहती वह, मुझसे आकर कहती।
मैं भी क्या कर सकता था तब, बस विचलित हो लेता,
आँखें खोले अंधकार में रात-रात सो लेता।
एक बार मन में आया था, सच-सच उसे बता दूँ,
आगे कुछ संभाव्य नहीं, तो पूर्ण विराम लगा दूँ,
लेकिन साहस जुटा न पाया, ऐसा मन निर्बल था,
क्या बोलूँ मैं, मित्र, समय वह कितना तो चंचल था।
मध्य पहर होगा रजनी का, एक चीख जब आई,
मेरे सम्मुख खड़ी हुई थी एक विरल परछाई;
उठकर अंतःपुर भागा, देखा कुहराम मचा था,
मैं कुछ भी कह पाता उस क्षण, कुछ क्या शेष बचा था!
ज्ञात हुआ, हर्षिणी धरा पर छोड़ गई है काया,
मैंने उस दिन था अपने को कितना निर्बल पाया।
छोड़ गई पर अपने पीछे नई हर्षिणी नन्ही,
शांता ही तो वह पुत्री है, ऋषिवर की जो बन्नी।

दशरथ

वज्र-सूचना मिली मुझे थी, अब दुहराना क्या है,
सोई हुई व्यथा को ऐसे, मित्र, जगाना क्या है!
मैं था विवश पिता के आगे, था विरोध क्या संभव?
ऐसा करना, तो सीधे ही छेड़ जगाना भैरव,
इसीलिए मैं उस परिणय को बोल गया था; छल था;
तुम्हीं कहो, उस कठिन समय में और अन्य क्या हल था?
यह भी भूल गया, साक्षी था विश्वनाथ, परिणय का,
स्वर्ण-सिन्धु के शांत वक्ष पर रक्तिम किरण-उदय का!

रोमपाद

शोकाकुल हो बंधु नहीं, जो आगे, मुख्य वही है;
रात हो चली शेष, पुलक से रोमिल-शांत मही है;
शृंग ऋषि दामाद तुम्हारे पहले लगते, सच है,
इन्हें अगर बस अपना समझूं, तो फिर यह लालच है।
अनुनय की कुछ बात कहाँ, अपना अधिकार संभालो,
आँगन का यह कल्पवृक्ष है, मनचाहा फल पा लो!
लक्ष्य तुम्हारे आने का कहता हूँ उनसे, खुलकर,
अब तो तने हुए आनन को, मेरे लिए मृदुल कर!

(दशरथ के अधरों पर हल्की मुस्कान उभरती है, लेकिन
शीघ्र गंभीर हो उठते हैं)

दशरथ

क्या न भला होगा, शांता ही मेरी बात कहे यह,
और यहीं पर हमदोनों का अब संवाद रहे यह,
जब तक वह संदेश शुक्ल कुछ हम तक न आ जाए,
सिहर उठे न हर्ष-मोद से रोम-रोम कुम्हलाए!
आगे की तब बात रखेंगे, खोल हृदय को आगे,
कुछ उन पर हम थोप रहे हैं, मन में कहीं न जागे।

रोमपाद

'क्या न भला' क्यों कहते यह तुम, क्या शंका का कारण?
अच्छा होगा कर दूँ पहले इसका पूर्ण निवारण;
यह मत समझो, नहीं जानती शांता बीती बातें,
लेकिन सब कुछ सहन कर गई, वज्र नियति की घातें।
हुई सयानी, तो समझा, सच कहना, यही उचित है,
अपने को, उसको भी भ्रम में रखना तो अनुचित है।
सुनकर दुखित हुई थी शांता, लेकिन संभल गई थी,
अंधकार के महाविवर से क्षण में निकल गई थी।
ऐसी ही वह जेठी माँ से बंधी हुई है कसकर,
कोई क्यों न कठिन व्यथा हो, सह ले उसे हुलसकर।
शांता है, तो शांति भुवन में, समझो चंपा भर में,
बदली की छाया, ज्यों तपते दिन के मध्य प्रहर में।
मित्र, कहें क्या, चंपा को क्या राजकुँवर मिल पाता,
शांता के मन में भाई का मोह नहीं जो आता।
इसके ही अनुनय पर यह सब हुआ, नहीं जो होता,
स्वर्ण विहग-शावक-कलरव से गूँजा नीरव खोता।
बृद्धनाथ के गंगातट पर वह पुत्रेष्टि का अध्वर,
वेदपाठ से पहले वह कैसा गूंजा था हर-हर!
गुरु विशिष्ठ तक उस अध्वर में ऋत्विक थे, वह मख था!
वेदपाठ के साथ गूंजता नभ में नाद अलख था!
जुट आए थे कलिंग-बंग के साथ पौण्ड्र, मगधेश्वर,
साक्षी है यह जह्नु-धरा की सभी दिशाएं-अंबर।
चंपा का था राजभवन चतुरंग-रुदन से सरसा,
लगा यही था, पूर्व जन्म के पुण्य फलों की बरसा!
अंग अवध से कहाँ भिन्न है, अंग अवध का अपना,
बस समझो, हँसनेवाला है, भीग रहा जो सपना।
इसी बहाने और यहाँ चंपा में कुछ दिन रुक लो,
मुझसे ही बस नहीं, भाभी से बतियाने का सुख लो!

शांता को भी स्नेह पिता का, मधु सौभाग्य मिलेगा,
अब तक मन का खिला नहीं जो, शतदल, वही खिलेगा।
बेटी है न, मित्र; कुसुम-रज और सुरभि से बनती,
आती है प्राणों को लेकर रेशम-पट से छनती;
सबके लिए हृदय का संपुट इसका खुला हुआ है,
पीहर के हित में तो जैसे जीवन घुला हुआ है।
भीगी नहीं पिता की आँखें; बरसी मेघसुता बन,
घर में बेटी नहीं, तो समझो घर है बिन छत-आँगन!
शांता पुत्री को पाकर तो जन्म सुफल है मेरा,
बहुत ऋणी हूँ मित्र तुम्हारा, रुका दुखों का फेरा !
फूटे अब आलोक अवध में, इसकी बात रखेगी,
मित्र, हमें जो कहना ऋषि से, वह भी वही कहेगी,
लेकिन तुम्हें यहाँ चंपा में और ठहरना होगा,
यह उपकार भले मुझ पर हो, लेकिन करना होगा!

दशरथ

रोम, अभी से ही लगता है, पूर्ण हो गया इच्छित,
संपुट में आ गया अचानक, रखा कहीं जो रक्षित!
अब तो क्या साकेत, दिशाएं चारो, मेरु अचल हैं,
अबुझ पुलक क्या उठी, शिराएं प्राणों-से चंचल हैं।

रोमपाद

दशरथ, चार दिशाएं कहकर, क्या तुम चाह रहे हो?
कहीं चार पुत्रों की इच्छा में तो नहीं बहे हो?

दशरथ

तो फिर चारो लोक अवध में होंगे डेरा डाले,
शेषनाग के लिए कठिनतम होगा, इसे संभाले!

(दोनों खिलखिला कर हँसते हैं)

(पटाक्षेप)

चतुर्थ अंक

(गंगा नदी के किनारे बने आश्रम के बाहर दो अलग-अलग,
पर सटे शिलाखंडों पर ऋष्यशृंग शांता के साथ संवादरत।
संध्याकाल)

शांता

कल से ही मैं सोच रही हूँ, क्या अनहोनी बात,
किस चिंता में डूबे से हरदम लगते हैं, तात!
आए हैं अवधेश अवध से, फिर भी सब हैं शांत,
जब साकेत अंग पर उतरा, क्यों सूना-सा प्रांत?
पिता मिले हैं ज्येष्ठ पिता से और दिखे न रंग,
कभी नहीं देखा था ऐसा; चुपचुप-गुमसुम अंग।

ऋष्यशृंग

कारण है कुछ, निपट अकेले आए हैं अवधेश,
और बिना संदेश ही दिए, धरकर रथी का भेष।
जब उतरे थे राजभवन में, दौड़ पड़े थे तात,
जो कुछ देखा है मैंने, अब वही कहूँगा बात—
यूं तो जो कुछ सुना पूर्व में, कम क्या, वही अथाह,
कहाँ दिखा पर, गहन-ग्रस्त हो जैसे दिनकर, आह!
मन में उठने लगे प्रश्न-पर-प्रश्न, बात-पर-बात,
सूर्य-वंश के मध्य दिवस में यह कैसी है रात?

मन ने कहा बहुत कुछ मुझसे, बिना रहे ही मौन,
पूछ रहा था मुझसे ही सर उठा-उठाकर कौन?
कहीं किसी संकट से घिर तो नहीं गया साकेत?
उठा लिया था शंकाओं ने अपने सर पर प्रेत।
मैंने देखा, मणि-कंचन का अवध बहुत श्रीहीन,
त्रिविध व्याधि के अंध लोक में भास्वर रवि को लीन ।
कहीं नहीं थी नीलम नभ पर मोती की वह जोत,
मानिक भोर, दिवस-संध्या; पुखराज-हेम के स्रोत !
पंच महाभूतों, अक्षर का, गुण-अमृत का धाम,
षड ऋतुओं के सप्तम स्वर पर अष्टकमल छविधाम;
छः रागों की पाँच-पाँच रागनियों का आरोह,
आदि-मध्य-इति के त्रिशूल में कभी दिखा न द्रोह;
नवरस, नवनिधि, नवरत्नों का, नवभक्ति का लोक,
दशों दिशाओं, दिक्पालों में जहाँ कभी न शोक;
उसी धाम के ऊपर छाया क्या चिंता का व्योम?
यह कहते तो मेरे ही कंपित होते हैं, रोम!

शांता

यह संभव क्या? वह भी अवध का। कैसी है यह बात?
आर्य, अवध तो चिर वसंत में खिला हुआ जलजात!
सुनती आई हूँ जननी से, कहते आए तात,
अवध-भूमि तो विष्णु-नाभि पर खिला हुआ जलजात।
जहाँ सिद्धियाँ दौड़ा करतीं कर में लिए त्रिकाल,
जिसके गुण-गायन में आठो छंद बराबर ताल!
व्याप भला कैसे सकता है, रविकुल को ही शोक,
जो शक, त्वष्टा,, धाता, अचभा, पूषा, सविता-ओक?

ऋष्यशृंग

शांते, तुमने कहा अभी जो, तनिक न मिथ्या-अंश,
लेकिन सच है, छायापथ से बाधित सविता-वंश।

कौशलेश आ रहे अंग में मुझे कहाँ था ज्ञात,
लगता तो है, नहीं जानते रहे तात भी स्यात।
निकला था आश्रम से मैं तो राजभवन की ओर,
सोनजुही-सा खिला हुआ था पूरब क्षिति पर भोर।
देखा चहल-पहल कुछ भारी, वह भी तुरत हठात्,
कुछ भी समझ नहीं मैं पाया, औचक यह क्या बात?
सावधान हो गये मंत्री थे, द्वारपाल-दिक्पाल,
दूर-दूर तक सेनाओं का बिछा-बिछा-सा जाल।
ठिठक गया मैं मौलसिरी के नीचे लेकर छाँव,
देख लिया न जब तक सब कुछ, रुके रहे ही पाँव।
अवधभूप जब मिले तात से, सिहर उठे थे रोम,
लगा, एक हो गये अचानक; जैसे सविता-सोम;
देवदार के वृक्ष झूमकर एक हुए हों पास;
दो पर्वत के शिखर मिले हों पाकर नया उजास।
देर तलक वे रहे समाधि में; जैसे, योगी शांत;
शरत ऋतु के खुले गगन में दो नक्षत्र अति कांत!
उस क्षण का वह दृश्य; रात में सहसा विपुल इंजोर,
सौ-सौ लिए दिवाकर संग में जाग उठा हो भोर।
भूल गया मन, शंकाओं का उठता वाद-विवाद,
बोलूँ क्या कैसा था मेरे मन का वह आह्लाद!
कुछ क्षण तो मैं मोद-पाश में बँधा रहा, फिर बाद,
मैंने देखा अवधराज-आनन पर हर्ष-विषाद।
गले मिले, फिर अलग हुए, तो देखा दृश्य विचित्र,
एक मित्र पर मोद प्रकट था, दुखित अन्य था मित्र।
सोचा कब था, कभी दिखेंगे अवधेश्वर यूँ दीन,
दृष्टि कहीं पर, बुद्धि कहीं पर चित्त कहीं तल्लीन।
दिखा भाल पर चिंता के सागर का भीषण ज्वार,
जिसमें कुछ वैवर्ण्य, दीनता, कंपन बारंबार।
जो कुछ देखा उन पर छाया, हुआ नहीं विश्वास;
हाव-भाव में विचलन देखा, कहीं नहीं अनुप्रास।

घन को नहीं गरजता देखा, आँधी-झकसी-जोर,
चपलों के संग ठनकाओं का कहीं नहीं कुछ छोर।
तात दिखे थे पल में कितने व्याकुल और अधीर,
जमा हुआ हिम बह निकला हो फेनिल बनकर नीर।
इतना कभी नहीं देखा था उनको विकल-अधीर,
भीग रही थीं आँखें उनकी, पलकों पर न नीर।
थके पाँव से निकल गये थे राजभवन की ओर।

शांता

ऐसा क्या हो गया अचानक?

ऋष्यशृंग

अचरज मुझे था घोर।
मिलन-योग से लेकिन मैं तो होता रहा विभोर।
बंद किए आँखें मैं इस्थिर, पड़ा रहा ही शांत
इसी सोच में, अवधराज क्यों दिखते यूँ उद्‌भ्रांत ?
कुछ निष्कर्ष जुटा पाता कि तभी आ गये तात,
भोर हो गया था, लेकिन पर जमी हुई थी रात।
अभिवादन में खड़ा हुआ मैं, होकर पूर्ण सचेत,
राजभवन की ओर गमन का मुझे मिला संकेत ।
पहुँच गये अंतःपुर क्षण में, जहाँ मिले अवधेश,
सब कुछ बता रहे थे फैले लोचन, बिखरे केश।
आसन पर बैठे थे इस्थिर, क्षण में हुए सचेत,
छोड़ छाप पैरों के पीछे निकल गया था प्रेत।
फूटे मुँह से तात-वचन तब; अनहद के हों नाद,
वाद-विवाद बने-से सुर ने पाया हो संवाद।
'हे ऋषिश्रेष्ठ! जानिए सब कुछ, क्या प्रच्छन्न ही बात,
भावी कुल की चिंता का ही अहोरात्र उत्पात;
जिससे मुक्ति मिली थी मुझको, वही खड़ा फिर शोक,
अवध-भाग्य को रखा हुआ है इसने छल से रोक।'

और किया संकेत तात ने, कर भविष्य का ध्यान,
शांता के संग करना होगा अवधराज प्रस्थान।
बात-बात में मैंने जाना, सब कुछ जो सविशेष,
क्यों नरेश आए निसंग हैं ऐसे राधा देश।
आये हैं ये गुरु वशिष्ठ का पाकर ही संकेत,
खुलने लगा था मेरे सम्मुख छुपा हुआ अभिप्रेत।
रुके नहीं थे तात, कहा था, 'क्या विचित्र है बात,
'रौंद रहा सौरभ के वन को कब से झंझावात ।
जो अशोक का पुष्पित कानन, उस पर छाया शोक,
सूर्यलोक ही बना हुआ है व्याधि-तमस का ओक।
संतति के बिन शून्य लोक-सा आज दिवाकर-वंश,
चाह रहा है रघुकुल अब तो भावी कुल का अंश!
और बिना ऋषिशृंग भला कैसे उतरे आलोक,
मेरे ही दामाद हरेंगे सूर्यवंश का शोक।
मिथ्या कुछ भी कहाँ कहीं था, जो कुछ कहा सुमंत,
चंपा के ऋषिशृंग लिखेंगे वंश-व्याधि का अंत।'

शांता
हाँ, जननी ने यही कहा था मुझसे भी कल शाम,
अब तो बस दामाद-पुण्य से सुधरेंगे सब काम।
जेठी माँ की आँखों में तब देखा नया उजास,
न जाने किस स्वर्ण दिवस का पाकर ही आभास।
और तभी जागा था मन में

ऋष्यशृंग
इच्छाओं का मेघ,
निज भाई के बिना अगति सम जीवन का हर डेग।

शांता

हाँ, ऐसा ही मुझे लगा था, इससे कुछ न भिन्न,
क्या सोचेगा कोई, सारी बातों से थी छिन्न।
जेठी माँ ने मुझे भाँपकर यही कहा था, नाथ,
'शांता का सौभाग्य खिले, हो निज भाई का साथ!'
पुलकित बहुत हुई थी सुनकर मैं भी तो यह बात,
संध्या के कोने में मैंने देखा हँसता प्रात!
कैसे छिप सकती थी खुशियाँ, मेरे मन का हर्ष,
बता सकी न तुरत आपको, नाथ चाहती मर्ष!
प्रज्ञा जिनकी दास, भला क्या उनसे हो अज्ञात,
लेकिन मन तो मन ही होता, बोले रहे न बात।
मेरे तो दो-दो नैहर हैं, दो-दो माँ, दो तात,
दोनों घर में भाई हों, इससे क्या अच्छी बात!
एक निमिष में क्या-क्या देखा, सिमट गया था काल,
एक राग ऐसा गूँजा था, झंकृत सारे ताल!
कैसे मैं अपने मानस की पीड़ा कहती, नाथ,
उस अभाव की कंदुक-क्रीड़ा होती हूँ, दिन-रात।
मन की किंछा पीछा करती ही रहती है, हाय,
पर सावन की पूनम में यह डायन बनी कसाय,
और सघन हो जाती, जब कातिक का आता मास,
आँखों में उड़ती है पावस, किंछा बड़ी उदास।
क्यों उमड़ा करता है ऐसा एक अछूता प्रेम,
पूर्व जन्म के किसी शाप से शापित मेरा नेम।
अवध भूमि के सूर्यवंश पर लगी हुई क्यों रोक,
वैभव के उस राजभवन में वैभव को क्यों शोक?

(क्षण भर मौन रहने के बाद)

तो फिर क्या सोचा है कहिए, क्या आगे की बात?
हो वसंत की हाँक और फिर खिले नहीं जलजात!

तपःपूत का तेज दमकता, जहाँ तमस हो अंध,
लिखने को आतुर है दिनकर ज्योति-पर्व-अनुबंध।
नाथ, अंग की चंपा पर ज्यों इक्ष्वाकु कुल-धाम,
अवध-हृदय में बसता है वैसा चंपा का नाम।

ऋष्यशृंग

शांते, लेते नाम अवध का खिला तुम्हारा रूप;
जैसे, पूस-माघ में फैली फागुन की हो धूप!
न जाने क्यों मेरा भी मन बहने को लाचार,
पाकर कैसा पुलक रहा है आमंत्रण-उपहार;
क्यों अटूट संबंध न होगा, दो घर एक ही द्वार,
चंपा तो वह भूमि, सरयु तक जिसका है विस्तार।
अंग-अवध का आदि काल से रवि-प्रकाश-संबंध,
अब भी शशि-सा चमक रहा है एक अमिट अनुबंध।
पाँच पीढ़ियों से ऊपर का टिका हुआ परिवार,
अंग-अवध घर-आँगन का यह अद्‌भुत है संसार!
तात-अवधपति-संवादों में खुलता रहा अतीत,
कैसे टिकी रही ज्वारों पर दोनों कुल की प्रीति।
डिगे नहीं मंद्राचल कुछ भी, हिले नहीं संसार,
इसीलिए तो होता है हरि का कच्छप-अवतार।
सदियों का यह संधिपत्र अब बन जाए आकाश,
ग्रह-राशि हैं वक्र अवध पर, कटे काल का पाश;
देख रहा हूँ झीलों में कमलों का खिलता हास।
नील कुसुम को लिए ठूंठ पर बैठा है मधुमास;
राशि-ग्रहों की गतियों में है कहीं नहीं व्यवधान;
अवध-भूप के साथ करेंगे निश्चय ही प्रस्थान!
कुछ जो कहीं राह को रोके, वह चंपा का मोह,
इससे विमुख तुरत हो पाना, दुर्निवार है, ओह!

शांता

सचमुच अपनी जन्मभूमि का कैसा उत्कट मोह,
व्याकुलता की कैसी चंचल रजनी घिरती, ओह!
आर्य, ग्रहों की गति में क्यों न रहे कहीं व्यवधान,
तात-नाथ हो साथ-साथ, तो क्या अनिष्ट का ध्यान।

ऋष्यशृंग

रवि-गति पर कब टिक पायी है शनि की तिर्यक चाल?
ज्यों गरुड़ को देख बदलता पथ को विषधर व्याल।
दुःचिंता में फँसे स्वर्ग को नहीं मिलेगा न्याय;
लिखना है अब अंग देश का एक नया अध्याय।
जो भविष्य को हर संकट में दिखलायेगा राह,
जिस पर चलकर एक दिखेंगे दीन-दुखी और नाह।
यही समय है, ज्ञान अंग का पा जाए उत्कर्ष,
मुर्झाए चंदन-वन में हो, नव सुवास का हर्ष!
रुकना होगा एक वर्ष तक जब तक यज्ञ न शेष,
जन्मभूमि इस अंग देश से ले लूँ तो आदेश!
यही भूमि तो, लिए हुए जो योजन का विस्तार,
जाना कब क्या; रहा हमेशा बंद स्वर्ग का द्वार।
चंपा आया, तो जाना सब; गंध-श्रवण के स्वाद,
कहाँ भुला पाया हूँ कुछ भी, अब भी सब कुछ याद।
छू देती तुम, खिल जाते थे, पुष्प बिना मधुमास,
मैं रखता कुछ शब्द अगर, तो अर्थ तुम्हारे पास।
सेमल की कोमलता जानी, तो शिरीष की गंध,
चंपा आने से पहले तो सुर-सितार थे बंद।
क्षण-क्षण खुलने लगे दृश्य सब, इन्द्रधनुष का लोक,
दृष्ट जगत, अव्यक्त, पुरुष का दिखा धवल वह ओक।
तुमसे मिलकर ही तो जाना लहरों का संगीत,
मृदुल छंद की बाँहों से लग झूल पड़े मधु गीत।

तुष्टि-सिद्धि ही नहीं मोक्ष भी आज हमारे साथ,
अंधकार भी लगता है कितना मधुमय अवदात!
मिलती नहीं, तो छाया रहता जड़ता का अवसाद,
शून्य लोक में शून्य सृजन का घहराता बस नाद।
नहीं जानता ज्योति-पर्व को, नहीं जानता फाग,
शून्य लोक में शून्य सृजन का वही गरजता राग।
चंपा का आकाश-दीप यह-आशाओं का लोक,
एक पर्व ही हर लेता है सौ जन्मों का शोक!
तन्मात्राओं की ममता का यहीं मिला है ज्ञान,
जाना मैंने चंपा में ही जीवन का संधान।
क्यों न भला घेरे अब मुझको इस धरती का मोह,
पल भर को भी इसे भुलाना, प्राणों से ही द्रोह।
इसी भूमि ने ज्ञान कराया क्षिति, जल, पावक-रास,
मैं तो इतना जान रहा था केवल है आकाश।
उसी लोक की चिंता में रहता था चिंतनशील,
और रंग भी होते हैं, कब जाना, जाना नील?
जह्नुसुता की भूमि पहुँचकर पाया है यह ज्ञान,
छू ले जो सौरभ समीर को, चंचल-विचलित ध्यान!
यहीं पहुँचकर जाना मैंने प्राणों का विस्तार,
नभ से कम तो नहीं ललित यह दृश्यमान संसार!
रस को जाना, स्वाद श्रवण का, अघा गये हैं नेत्र,
अब तक रहे अछूते ही तो पुलक-कंप के क्षेत्र!
जह्नुसुता की भूमि पहुँचकर जाना भारतवर्ष,
हिमगिरि से लेकर सागर तक व्याप्त शोक और हर्ष।
कल तक मेरा लोक सीमित था, कमल-कोष में बंद,
आज वही रागों से झंकृत पाकर अनगिन छंद।
यहाँ पहुँचकर मैंने जाना आत्मविषय का लोक।
कर सकता है नहीं जगत को बिलकुल शांत-अशोक।
इसीलिए इस चंपा से मन बँधा हुआ निष्काम,
इसके दिवस वेद-से लगते, उपनिषदों-सी शाम!

बुद्ध दिवस को ही सोचा था, चलना है वह गाँव,
ऋषि कहौल का जो आश्रम है, कल्प-छंद की छाँव,
अष्टावक्र महा ऋषि से मिल प्यास करूँ मैं शांत;
सोचा तो यह भी था मैंने, बस इसके उपरांत,
ऋषिवर परशुराम का आश्रम वह अधित्यका कांत,
मंद्राचल; ज्यों सिमट गया हो अचला पर ही व्योम,
और महानद क्षीर बना-सा बह निकला हो सोम!
महामहर्षि के चरणों पर मैं झुका आऊँगा शीश,
जिनके आगे रज-कण से ही प्रभाहीन अवनीश।
अब तो आगे और कभी फिर, अभी रुके यह चाह,
पुण्य लक्ष्य के ही मतंग पर टूट पड़े न ग्राह!
मेरी ही क्या, गुरु विशिष्ठ के साथ तात की चाह,
कैसे कुछ अवहेलित होगा, सोचो, मुझसे, आह!
जुड़ना होगा अखिल सृष्टि से, सुख-दुख में हो लीन,
बंधु भाव से मिले नहीं, तो लोक दिखेगा दीन।
अच्छा होगा चंपा का ही, सह लूँ अल्प विछोह,
लेकिन तम में ज्योति बाँटने का छूटे न मोह!
ज्यों चतुरंग लिए कंधे पर प्रमुदित होता अंग,
लेता है आकार कोई आने को नया अनंग।
नील व्योम में देखा है मैंने कल नीला लोक,
उससे कोई उतर रहा है बिना रोक या टोक।
देखा है ऋतुओं को उसमें आते, होते लीन,
एक वही तो दो लगता है, जिसमें इस्थिर तीन।
शिशु का ले आकार उतरनेवाला है वह अंश,
नई दीप्ति से आलोकित हो सूर्य-वंश का वंश।
जो कुछ देखा स्वप्न-काल में, अद्‌भुत था, अभिराम,
पंक्तिबद्ध अनुकूल खड़े थे, अब तक जो भी वाम ।
सोचा था, क्या करना मुझको? अब तो साध तुम्हारी,
चंपा को सुख-भाग मिला जो, वही अवध की बारी।

याद करो तुम, यही भूमि है कोसो तक जो फैली,
मेरी सुधि तो अब भी वैसी, किंचित कुछ न मैली।
यहाँ वेदियाँ और मध्य में वेदी मुख्य बनी थी,
होम, द्रव्य के सौरभ से जैसे यह सृष्टि सनी थी।
गुरु वशिष्ठ थे साथ, बृद्ध-बालक का योग अनोखा
दुर्दिन कैसे सिमट गया था पकड़े अपना मोखा।
खिला अंग का राजकमल था लिए भाग्य-सौरभ को;
भरी मोद से चंपा थी आमंत्रण देती नभ को,
और तात के ऊपर छाई थी पुण्यों की छाँह,
सारे ग्रह वरदान- दान में फैलाए थे बाँह।
सभी राशियाँ एक सूत्र में बँधी हुईं अनुकूल,
कल्पकुसुम में परिवर्त्तित थे नियतिदेव के शूल।
चतुरंग चार बरस होने को, धर्मनिष्ठ निकलेगा,
जो अधर्म का पोषक होगा, उसको तुरत दलेगा;
ऐसा ही कुछ और दिव्य बालक का योग लिखा है
झूठ नहीं वह हो सकता, जो बीती रात दिखा है—
अग्निकुण्ड का तेज कमल के पत्रों पर स्थिर है,
जो शशि-सा शीतल लगता है, तो फिर कभी मिहिर है;
शिशु का ले आकार वही फिर काल-खिलौना खेले
कर में ले तिनके को उससे रत्नाकर को ठेले।
सभी दिशाओं की ऋतुएं थीं उसके आगे-पीछे,
धरती छत्र बनी थी ऊपर, भूधर चरण के नीचे;
इसे स्वाप मत कहना, यह तो उसका अग्र चरण है,
जहाँ अवध का भाग्य खिलेगा उसके लिए शरण है।
इसीलिए तो चंपा का कुछ छूट रहा है मोह,
प्राणों में भर रहा पुलक को शूलों भरा विछोह।
शांते, लेकिन तुमको भी मेरे संग चलना होगा,
शिशिर शेष हो रहा शीघ्र ही हमें निकलना होगा।
लग जायेंगे कई माह ही, औषध खोज निकालूँ,
ये ऐसी ही जड़ी-बूटियाँ, सहज नहीं कि पा लूँ!

दुर्गम हिमगिरि पर ही मिलीं, वह भी कहीं-कहीं पर,
कुछ ऊपर चढ़ने पर, कुछ तो नीचे बहुत उतरकर।
यही समय उन जड़ियों, पत्तों, पुष्पों के खिलने का,
कुछ का तो निर्दिष्ट समय ही होता है मिलने का।

शांता

नाथ, सोम का दिन निश्चित है; कहाँ रहा सन्देह,
मैं भी साथ रहूँगी, मुझ पर यह विशेष है नेह।
देखा नहीं अवध को अब तक, पूरी होगी साध,
पैरों पर है गिरा हुआ मेरे प्राणों का व्याध।

(पटाक्षेप)

पंचम सर्ग

(सरयु नदी के किनारे आश्रम और कुश के आसन पर ऋष्यशृंग आसीन। पास ही बैठी शांता भी फूल-पत्तियों को अलग करती दिखती है)

ऋष्यशृंग

जो कुछ जैसा सुना तात से मैंने चम्पा में था,
यह साकेत कहाँ कुछ भी कम उससे हूँ मैं पाता।
स्वर्ग-निलय जैसा होता है, उससे क्या यह कम है !
जैसा अपना अंगदेश है, वैसा ही अनुपम है!
चम्पा से सम्मान मिला जो, उससे कहीं न घटकर,
लगता है वह यहाँ उपस्थित पहले हुआ सिमटकर।
यह उत्कर्ष अवध का, शांते, ऐसे नहीं हुआ है,
लोकधर्म से राष्ट्रधर्म तक सब कुछ छुआ-छुआ है।
इन विषयों पर सभासदों में कोई भेद नहीं है,
अमृत का घट रखा धरा पर, कोई छेद नहीं है।
छेद नहीं है इसीलिए कि मिलकर एक सभासद,
भिन्न मतों से बँटे अमात्य हों, ऐसी दशा न त्रासद।
राजपदों पर बुद्धि-मनीषा, प्रज्ञा के अधिकारी,
नहीं शापते कभी किसी को, नहीं दिखे अतिचारी।
जावाली, काश्यप, दीर्घायु, गौतम, कात्यायन हों,
धर्मपाल हों, धृष्ट, विनय भी और राष्ट्रबर्द्धन हों;

जहाँ सुमंत के सदविवेक पर चले राष्ट्र का शासन,
क्यों न सूर्य-सा दीप्त रहे उस राजमुकुट का आसन।
राजधर्म की जहाँ दिशाएं गुरु वशिष्ठ से तय हो,
क्यों न अवध त्रय ताप, काल के भय से मुक्त-अभय हो।
प्रथम दिवस से ही चंपा में जो सम्मान मिला है,
वैसा ही साकेतराज से; आकर हृदय खिला है।
चंपा में वह मेघ बरसना, यहाँ सुरभि की पावस,
शुक्ल काल में बदल गया है जमता हुआ अमावस;
लगा कहाँ दामाद नहीं मैं, यहाँ अवध में आकर,
धन्य-धन्य हो गया शांते मैं, पाया सभी अघाकर।

शांता

नाथ, नगर से दूर सरयु के उत्तर तट पर आकर,
एक माह से बसे हुए हम सुख को यहाँ बसाकर;
यज्ञवेदी का शिल्पी ही निर्माण करेंगे, तय है,
इसीलिए अम्बार इष्टका का ऐसा संचय है।
अलग-अलग भूपों के आश्रम, मंत्री-सेनापति के;
ऋत्विक की कुटियाएं सौ-सौ, आश्रम ये मुनि-यति के;
उत्तर-दक्षिण, पश्चिम के सम्राटों के ये आश्रय;
पूर्व देश के भूपति का तो सबसे अलग विभामय!
पुरवासी की अलग व्यवस्था, अलग नारी की, नर की,
देख रही हूँ शांत विजन में शोभा सजे नगर की।

ऋष्यशृंग

शांते, तुमने ठीक कहा, पर इसमें अभी समय है,
संवत्सर पूरा होने में एक माह निश्चय है;
लौट आए वे अश्व, यज्ञ के लिए छुटे जो पहले,
दुख तो दूर अवध का होना, और समय कुछ सह ले।
यह क्यों कहूँ, अवध की ही बस व्यथा-कथा मिटने को,
यह तो ऐसा दिष्ट, जहाँ नभ-भू के सुख मिलने को।

शांता

समझा नहीं, नाथ के कहने का आखिर क्या आशय,
शून्य गगन में भास गया है ऐसा कौन जलाशय,
जिस तड़ाग में पुलकित-चंचल कमलों का कुल मिलकर;
देख रही हूँ आज नाथ को अमलतास हैं खिलकर।
साफ-साफ कहिए, क्या कहना चाह रहे हैं इससे?
ऐसा क्या आलोक उठेगा, दीप्त सृष्टि यह जिससे?
मैं इतना भर यही जानती, माँ की कोख फलेगी,
रश्मि भोर की फूट पड़ेगी, निश्चय रात ढलेगी।
स्वर्ण-सौध की दीवारों से गूंजेगी किलकारी,
राग-मोद से अवध नगर के पुलकित निलय-अटारी।

ऋष्यशृंग

शांते, तुमने जो कुछ समझा, सब कुछ वही नहीं है,
इस पुत्रेष्टि यज्ञ का मेरा समझो लक्ष्य कहीं है।
जब तक रहा मालिनी में था, सुनता रहा कथाएं—
ऐसे भी निर्दय नर, जिनसे थर-थर करें दिशाएं;
कभी रूप में, फिर अरूप में, विपदाओं के घर हैं;
जिनसे ही पाताल-धरा और स्वर्गलोक थर-थर हैं।
नहीं सुरों का कुछ चलता है, उठते अगर असुर हैं;
जितने होते देव, कहीं उनसे ये बड़े चतुर हैं;
शोणित का उन्माद शांति को नहीं ठहरने देता;
ज्ञान उतरना जब भी चाहे, कहाँ उतरने देता!
बल का वैभव, शील और संयम को चले दबाए;
सौरभद्रोही चन्दनवन को साँसों से धमकाए;
जहाँ लाज भयभीत बहुत है, शिशिर चैत पर बरसे;
हिरण कुलाँचें भूल चुके हों, बाघ-रीछ के डर से;
जहाँ दण्ड से मूर्छित, घायल, नतसिर क्षमा प्रणय हो;
जहाँ नहीं प्राणों का शतदल मन में खिला अभय हो;

डरता हो मधुमास चैत में कथा शिशिर की सुन कर;
मारण की गति तेज देख कर झुक जाता हो वामर;
चक्रवात का शासन हो नभ-भू पर दिशा-दिशा में;
घनीभूत संध्या की छाया उठती दिखे उषा में;
जहाँ सृजन पर महानाश का तांडव मचा हुआ हो;
घोर प्रभंजन की लपेट में हारिल, हंस, सुआ हो;
दीपशिखा पर अंधकार सौ योजन पर फैलाए;
झपटे, फिर अपने पैरों से कसते उसे उठाए;
हो जाता है पल में ओझल, अचला को कंपित कर;
तिरता है बस महाकाश पर संशय, भीत अगोचर;
शांते, यह तुमने भी देखा होगा तो निश्चय ही
उठनेवाला होता है अन्धड़, बतास या आँधी,
कैसे इस्थिर से लगते हैं वृक्ष भीम तक कंपित,
उड़ता बादल मेघलोक में हो जाता है लंबित,
उड़ जाते हैं दूर देश को तब वृक्षों के वासी;
पहरे पर होती हैं केवल सहमी हुई उदासी;
छा जाती है घोर शांति आसन्न किसी अति भय से;
सांसत में जंगल, पहाड़, तक झंझावायु-उदय से।
चक्रवात का चक्र रुके, पर किस्से छोड़ मरण के,
वृक्षों पर दिखते हैं बरसों उनके चिन्ह चरण के ।
अमर मृत्यु; पर जीवन का क्या सचमुच जोर नहीं है?
यह अपमान कहो प्राणों का क्या घनघोर नहीं है?
शैशव से सुनता आया हूँ अपने पूज्य पिता से,
डरता है अब कहाँ तमस भी प्रौढ़ हुआ सविता से।
आँगन से सिंहासन तक हैं प्रेतों की छाया में,
सुर के कंठ कहाँ खुल पाते वाणों की माया में।
शांते, अब वह समय निकट है, प्रेतों के मरने का,
जो पाई है सिद्धि तात से, पूरा वह करने का।
देख रहा हूँ जाल समेटे लौट रहा है व्याधा,
नील गगन का, पूर्ण चंद्र में बदल रहा शशि आधा।

ज्यादा नहीं प्रतीक्षा करना होगी और अवध को,
आगे और निकल आए शशि छूने को गुरु-पद को।
सूर्य, शुक्र, शनि, मंगल, वृहस्पति शिखर-भूमि पर आए,
मेष, मीन ये तुला, मकर क्या कर्क, सुभग दिखलाए,
उसी सुमंगल वेला की तो, मुझको अभी प्रतीक्षा,
करना है उत्तीर्ण अवध को, माना कठिन परीक्षा।
नहीं देखती, नील व्योम में कैसी तो यह हलचल,
बिछी रेत पर दूर तलक ही खिलते हुए कमलदल;
धवल शुष्क बादल के बीचोबीच धनुष सुरपति का;
कहीं नहीं है चिन्ह लेश भर कुटिल काल की गति का।
ऐसा ही तो समय हुआ करता है, साध पुराए,
क्रिया रूप में फल जाती है इच्छा जो भी आए;
जैसे मेघ-नाद को सुनकर पत्थर तक भी सिहरे,
चट्टानों में दबे हुए कण विरवा बन कर लहरे;
नियत काल में मंत्र-पाठ का तन पर वही असर है,
चेतन क्रिया वहीं तो रहती जो इच्छा का घर है;
जो मनुष्य में क्रियाशील है, वही देह से बाहर,
धर लेता है रूप किसी इच्छा के वश में आकर।
कभी प्रश्न तो उठता होगा, शांते, तुम्हारे मन में—
ऐसा क्या है यज्ञ-कुंड में मंत्रों और हवन में?
क्या ध्वनियों या उष्माओं से देह बदल सकती है?
बिना क्रिया के शून्य जगत में क्रिया निकल सकती है?
इच्छाओं की गति को जब परिवेश खड़ा करता है,
ग्रीष्मकाल में इन्द्रधनुष की शोभा को भरता है;
इच्छाओं के प्रबल वेग के आगे क्रिया नमित है,
हो अभाव, तो क्या होता है, इसमें भाव अमित है।
इससे अलग और भी कुछ है जो विश्वास बढ़ाए,
जिस कुल पर हो सूर्य सहायक, आँच वहाँ क्या आए,
और सूर्य क्या; हवनकुंड से उठा अनल ज्यों; रविकर,
क्या वसुधा का, स्वर्गलोक का सुख जिस पर है निर्भर।

अग्निदेव के जगने भर की देर, खुली ज्यों आँखें,
फैलेगी, तम तोम चीर कर, स्वर्ग-विहग की पाँखें;
सोई हुई शिराओं में किरणों की धार बहेगी,
पुरुजात की कथा सभी जन्मों में सृष्टि कहेगी।
आवाहन के लिए अभी तो पूर्व क्रिया है बाकी,
और अभी से भीग रही है देह शुष्क वसुधा की।
कैसा तो अम्बर का देखो आनन खिला-खिला है,
रोमांचित है रेत-रेत और पुलकित शिला-शिला है।
लगे हुए हैं पाँव हवा को, गिरि को, विटप-विटप को,
घेर लिया है महामोद ने एक साथ ही सबको;
बहती हो सरयु जैसे अणु-अणु की शिरा-शिरा में,
जगा हुआ है अनहद अब तो, शांते, गिरा-गिरा में!

शांता

यह तो नहीं बता सकती पर जितना देख रही हूँ,
उतना भर तो कहीं नहीं मिथ्या; मैं सही-सही हूँ;
देख रही हूँ, नयन नाथ के जैसे खिले कमल हों,
अंग-अंग में, रोम-रोम में सौ-सौ ही शतदल हों;
तपते गिरि पर अभी-अभी ज्यों बादल बरस गया है,
मन का भाव उठा आनन पर, वह तो और नया है।

ऋष्यशृंग

इसका भी कारण है, शांते, वह भविष्य है कर में;
अब तक वह जो रहा शून्य में लंबित कहीं अधर में।
अंधड़-ओलों से अब तक मलयानिल रहा विकल है;
सौरभ की बस्ती में भय की कैसी तो हलचल है;
बिंधे हुए शूलों से है कुसुमों के प्राण सुकोमल;
कैसे तो कम्पित हैं किसलय, घन-से पल्लव रोमल!
दशो-दिशाओं का बल लेकर कोई भूप बना है;
दूर क्षितिज पर देखो वह तम कैसा घोर घना है;

लेता है आकार विकट, तो अचला डर जाती है,
जिसकी क्षुद्र हँसी अंबर की वाणी हर जाती है।
चंचल मन की कमला अतिशय हेमकुंभ पर मोहित;
चन्दन, केसर, गुग्गुल सब ही किसी त्रास से लोहित;
ज्ञानी को जो प्राप्त नहीं, वह शक्ति तमस के कर में;
बैठ गई हैं सभी सिद्धियाँ अविचारी के घर में।
ज्योत्सना के बंद द्वार को खुलना होगा; प्रण है,
यह पुत्रेष्टि यज्ञ क्या केवल तम-प्रकाश का रण है ?
शोकग्रस्त यह रहे लोक और सुख में लीन अनय हो,
शांते, ऐसे अशुभ काल का जितनी जल्दी क्षय हो!
तुम पूछोगी, अशुभ काल क्यों, सब कुछ तो शुभ-शुभ है,
विपुल हर्ष-आशाओं में जब होता जग उबचुभ है।

शांता

हाँ स्वामी, हाँ यही प्रश्न तो मन में घिर आया है,
एक बार तो टाल गई थी लेकिन फिर आया है—
जबकि राशियां, ग्रह, नक्षत्र सब अपनी गति से शुभ हैं,
पल, क्षण, दिवस, माह भी जबकि प्रज्ञा-मति से शुभ हैं,
फिर भविष्य की कैसी चिंता घेर रही है मन को?
एक छोर से उठा हुआ घन घेरे हुए गगन को!
कुछ अनिष्ट, भावी संशय से मुझको यह भरता है,
क्या बतलाऊँ पल में कितना व्याकुल यह करता है!

ऋष्यशृंग

यह भावी चिंता, यह शंका तो निर्मूल नहीं है,
कुसुमों से उठते पराग की सुरभित धूल नहीं है,
आँधी में उड़ते पत्थर के टुकड़े हैं, मत भूलो;
कट जायेंगे अंग-अंग जो बढ़ कर इनको छू लो।
तम के यहाँ उपासक जो हैं, उनकी बात अलग है,
दुख तो यह है, रश्मिपुत्र के साथ यही लगभग है।

शिला जहाँ बन जाती पत्नी, माँ कुठार से लुंठित,
ये प्रकाश के पुत्र, हृदय से कितने तो हैं कुंठित।
मुझको तब तो ज्ञात नहीं था, मन का यह दुख क्या है,
और देह में खोज रहा जो नर ही, वह सुख क्या है?
तुमसे मिलकर जीवन का संताप समझ पाया हूँ,
उसे मेटने ही तो मैं साकेत यहाँ आया हूँ।
बीत रहा था वयस समय का, दुःचिंता में ऐसे;
गिरा हुआ पत्थर का टुकड़ा पत्थर पर हो जैसे।
जो प्रकाश का तिमिर-नृत्य है, तम से अधिक भयावह,
शांत नहीं रहने देता है, चंचल करता रह-रह।
मेरी चिंता एक साथ है, तम-प्रकाश पर केन्द्रित,
नये सूर्य की नई रश्मि से लोक लगे उद्भाषित।
विद्याओं का ज्ञाता हो और असि का अहं संभाले,
बढ़ता है जो कुसुम रौंदकर अपना पंथ निकाले;
उस पर निश्चित क्रोध काल का चढ़ा हुआ चलता है,
भले मृदा हो शुष्क, वहीं पर लाकर वह गलता है।
देवभूमि पर जैसा अत्याचार नारी पर अब है,
उससे तो भयभीत प्रकंपित सारा ही यह भव है।
सिंहासन की उठा-पटक में मन का आसन खाली,
आवाहन में मंत्र की जगह निकल रही है गाली।
अपने-अपने प्राणों की रक्षा में मौन धरे सब;
शंकाओं से, भय-चिंता, जड़ता से कसे-भरे सब;
मोह और मति, गर्व-हर्ष की कैसी कुटिल चपलता,
बस विषाद, निर्वेद, मृत्यु की छाई हुई विकलता।
वन से आकर नगर-प्रांत में इतना जान लिया है,
संकट कोई सरल नहीं है, यह तो मान लिया है।
नर में नारायण उतरे, तो कुटिल काल को रोके,
और नहीं तो क्या उपाय है, कोई उसको टोके।
रुके नहीं जो चरण मृत्यु के, समझो रखा प्रलय है,
देखा नहीं विगत वर्षों में कैसा शोक अभय है,

और अभी क्या हुआ दिखा है, इससे बहुत भयावह
शूलों का साम्राज्य बसेगा, सूखे हुये कमलदह!
जबसे सुनी कथा असुरा की, मन कितना है विह्वल,
ऐसा लगा उमड़ता सिंधु, छाड़न का हो दलदल।
जो नभ की है शुभ्र तारिका, ज्योत्सना की सरिता,
महाकवि के शांत हृदय की, सार छंद में कविता;
पुरुष परुष होकर करता है, नारी को अपमानित,
क्या प्रतिफल हो सकता इसका, समझा नहीं कदाचित।
शांते, यह तो खुला सत्य है, नारी सुधा-भरित है,
सुषमा और लावण्य-प्रभा से हर क्षण कलाकलित है,
लेकिन हो वशीभूत पुरुष से विकट यही बन जाती,
बिना हेतु के, बिना सोच के, धर्म आगे तन जाती;
फिर ममता की मूर्त्ति वही शोणित की प्यास बुझाने
गिरि-वन के ऊपर-नीचे लगती है दौड़ लगाने।
यह अधर्म का खेल रुकेगा, देव कोई जो उतरे,
कब तक आखिर अमृत फल को कीट वृक्ष पर कुतरे!
स्वर्ग ही नहीं, ऋषि-अरण्य तक कंपित है, शापित है,
शांते यह पुत्रेष्टि यज्ञ उस इच्छा को अर्पित है—
विचरे बुद्धि, मनीषा, प्रज्ञा निर्भय गिरि पर; वन में
धर्म रोक ले, पाप अगर जो उड़ता दिखे गगन में;
कामधेनु के लिए लड़े न ऋषि-मुनि ही आपस में;
कुछ अलभ्य के लिए कुपथ के कभी न ऋषि हों वश में।
ऋषियों का तो एक पंथ है, त्याग-तपस्या का ही,
नहीं शोभता यह सब, ईर्ष्या, द्वेष, समर या हाही।
क्षमा, सहन की शक्ति नहीं, तो ऋषि कैसे, लघु नर है;
हृदय जहाँ पर रो पड़ता है, हँसता वहीं समर है;
फिर तो क्या सौ पुत्र, सहस्त्रों तापस-पुत्र मरेंगे;
इस अभाव के पथ पर चलकर कैसे भाव भरेंगे?
यह ऋषियों का देश, मुदा सबकी अपनी हैं राहें,
संवादों से अलग विवादों में ही इनकी चाहें।

कहाँ दिखेगी ऐसे में इस महाद्वीप की चाहत,
वारिद ही जब अनलयुक्त हो, क्यों न रसा हो आहत?
महाद्वीप पर गंधर्वों का, यक्ष-रक्ष का, सबका,
किसी एक के लिए नहीं है भरा कुंभ यह रस का।
कुछ के कुछ-कुछ अलग पंथ हैं, अपनी-अपनी चाहें,
करते चलें प्रेम की बातें उठा-उठा कर बांहें;
तब कोई अप्सरा नहीं धारेगी रूप भयानक;
क्यों बरसेगा रक्षा में फिर किसी वीर का शायक।
अपनी शान-प्रतिष्ठा खातिर अपविद्या को वरना;
सभी तरह से एक इसी को शक्ति विभूषित करना;
जो आगे चल ऋत्विक, देव, त्रिया को करता शापित;
वसुधा पर होते रहते हैं सारे मूल्य पराजित।
वाणी के झरते पराग में सुरभि कहीं न होती;
मलयानिल के प्राणों में करुणा चुपचुप है रोती;
इन्द्रधनुष के रंगों पर होती है काली छाया;
चिंतन को घेरे रहती है, बस चिंता की माया।
इस अशांति के पीछे, सोचो, देव दोषी क्या कम हैं,
ऊपर-ऊपर लगे भले ये निर्मल हैं, अनुपम हैं।
वर का यह अपमान-अपव्यय सुर जो रोक चलेंगे,
वसुधा पर क्या आधि-व्याधि के ऐसे शोक चलेंगे?
लेकिन यह सब ऐसे ही रुकने से रहा, है मुश्किल,
क्या विराध सुधरेगा कहने भर से और अजामिल;
जब तक वसुधा पर कोई नर ऐसा नहीं उतरता,
संकेतों से रोक चले जो स्वर्ग नरक में गिरता।
जो ऋषियों का, दीनों के दुख का हर्त्ता हो पहले;
जिसका नाम सुने तो भू का महाप्रलय भी दहले;
शांते, अब तो वन-अरण्य का प्रश्न बहुत गहरा है,
जीवन देखा जहाँ, मृत्यु का हर क्षण ही पहरा है।
ये अरण्य जंगली जीवों का केवल क्रीड़ा-घर क्या?
नहीं डालते ऋषि-मुनियों या नर पर कोई असर क्या?

शांति नगर में कहाँ, जहाँ कोलाहल करे बसेरा;
चक्रव्यूह में फँसा हुआ मन, चिंताओं का फेरा;
शंकाओं, भय के झूलों पर निशा-दिवस ही झूले,
पेंग मार कर कभी मृत्यु के नील गगन को छूले।
कहने को तो नगर सुखों का, हित-शासन का घर है,
सच पूछो तो शांति विभव से शून्य-शुष्क अंबर है।
सुरधनु का प्रतिबिम्ब मात्र यह बहते हुए पवन पर,
कहाँ टिका है प्राणों का यह महारास लघु घन पर?
यह तो संभव प्रकृति-छाँव में, जहाँ प्राण खिलते हैं,
धरती और आकाश हृदय को खोल गले मिलते हैं;
वन-अरण्य हैं स्वर्ग धरा पर, ठहरा जहाँ समय है;
यह समाधि का चिर यौवन है, सुरभित प्रभा निलय है;
और वहीं पर अपविद्या की माया अब है विस्तृत,
गरल हो रहा माहुर तृण पर टपटप गिर कर अमृत।
शांति नहीं है सिद्ध जनों को अब अरण्य में, सच है;
प्राणों के हंताओं से ही घिरा विपिन में कच है;
कानन जो विद्याओं का, निधियों का सिद्धि-निलय है,
सूख चला सुषमा का घर यह, रोकें, अभी समय है।
इसीलिए पुत्रेष्टि यज्ञ यह, पुत्र-प्राप्ति क्या केवल;
मेरा लक्ष्य कहीं है, शांते, भले किसी का संबल।
वसुधा पर जो शेष बची हैं प्राणों की आभाएं,
कहीं हमारे हाथों से वे सब भी निकल न जाएं!
इस अरण्य की छवि-छाया में विहग देवता दिखते;
मानवता की, हृदय-कथा को पशु समूह तक लिखते;
संभव है, फिर आए नर वह भले शक्ति छल कर ले;
विभु से पाए अस्त्र समय पर शापित बने, बिखर ले;
शांते, वसुधा-श्री का घर तो वन आँगन-नैहर है,
वहीं साधुओं को क्या केवल, पशुओं तक को डर है,
अन्य वनों की बात छोड़ दो, दंडक कहाँ सुरक्षित?
धरती पर जो स्वर्ग, वहीं है मुक्ति-सुखों से वंचित।

सजते शूल जहाँ वधिकों के हिरण, सिंह, गज-सर से,
क्या आशा हो, काल रूप में विचर रहे उस नर से?
कहाँ तपस्वी कर पाते हैं यज्ञ-देव आवाहन,
कुटिल काल के गिरने लगते एक साथ ही पाहन।
विचरे जीव, तपस्वी, मुनिगण, निर्भय हो बल्कल में;
फिर पराग, सौरभ, रस दौड़े सूखे हुए कमल में;
ऋषियों के ही हर्ष नहीं, जीवों का हर्ष घना हो;
दृष्ट लोक ऐसा हो जो शोणित से नहीं सना हो!
कुछ विधान ऐसा हो जिससे उन्मादित बल काँपे,
पौर्णमास के पूर्णचंद्र को राहू ग्रसे न, झाँपे।

शांता

कुछ विधान का अर्थ मृत्यु का दंड भी लिए तो हैं,
और समझती जो कुछ मैं हूँ, अगर नहीं वह दो हैं,
नाथ, यहीं पर एक प्रश्न फिर आकर रुक जाता है,
बिना दंड के न्याय यहाँ पर क्यों न टिक पाता है?
शांति हेतु वध ही जो केवल एक मार्ग बचता है,
क्या इसमें पुरुषार्थ? न्याय जो कोई यह रचता है।
क्या कोई वह मार्ग नहीं है, जहाँ न वध-हिंसा हो;
झुका पाप और उठी दया हो, ऐसा नियम लगा हो?
अगर धर्म रक्षित करने का बस अधर्म ही पथ है,
लगता तो यही है अनीति का इसमें भी स्वारथ है।

ऋष्यशृंग

शांते, शांत करो शंका को, जो कुछ सोच रही हो,
वैसे मैं यह नहीं कह रहा, बिल्कुल सही नहीं हो;
जब अधर्म का अहंकार करता है नृत्य नगन हो;
धूल-धुआँ बन उड़ते रहते पर्वत, चाहे गगन हो;
तब तो धर्म वहाँ कँपता रहता है शावक जैसा,
मतवाले गज के पैरों से दलकर दिखता कैसा!

महामृत्यु पुतली-सी नाचे उस अधर्म के कर में;
बिछ जातीं सुर की सेनाएं रेतों-सी क्षण भर में;
सत्ता पर आसीन धर्म बस टुक-टुक देखा करता;
क्या करना था, चूक हुई क्या? इसका लेखा करता,
और भला क्या कर सकता है, सबके आगे रोए,
अपने कंधों पर महानता की गुदड़ी को ढोए।
क्षमा, दया, तप, त्याग सभी कुछ इसी बात पर निर्भर,
छूट रहा हो पाप कर्म पर शक्ति-तंत्र का वामर।
वामर का ही भय होता है, यह अधर्म झुकता है,
शांते, यह आतंक कहीं क्या विनती से रुकता है?
शक्ति-तंत्र का रूप रूद्र का बनता है जब पल में;
उड़ता हुआ व्योम में खल वह दिखता घोर अतल में।
फिर समाधि की शांति वहीं पर उठ आती है ऊपर;
छा जाता है धर्म, धर्म की भांति विभाएं भू पर;
लेकिन यह तब तक संभव क्या, अगर नहीं वह नर हो,
जिसमें क्रूर काल-सत्ता का नहीं जरा भी डर हो;
खल के गढ़ को ढाह सके, इच्छा के संग ही बल हो;
प्रजा-राज्य की रक्षा में ही लीन रहे, निश्छल हो;
वही धर्म को जीवन दे सकता है, अमर करेगा;
सत के पथ पर दीन बने जो उसका विपद हरेगा।
धर्म, रूप नर का धारण कर शीघ्र उतरनेवाला,
उतर रहा है राजासन को शीतल करनेवाला।
तापस-सा राजासन का जब रूप निखर आयेगा,
नर-काया में धर्म शीघ्र ही, फिर तो घर आयेगा।
यह मेरा पुत्रेष्टि-यज्ञ बस इसी लक्ष्य का अथ है,
धरती पर हो स्वर्ग लोक, सुख-शांति; इसी का पथ है।

शांता

आज आर्य के मुँह से ही वामर की बात डराती,
आनेवाले किसी समय का ही संकेत बताती;

भूपासन तो रहा सतत ही कोप-दंड का धारी,
इसीलिए तो रही सशंकित-कंपित वसुधा सारी;
धर्म सदा से रहा दूर उस आसन की छाया से,
जिसका हो संबंध हृदय से, क्या लेना काया से!
नाथ, बताएं, मुझे कौन-सा धर्म उतरने वाला,
भूपति के कंचन आसन को चंदन करने वाला?

ऋषिशृंग

मैं जिसकी हूँ बात कर रहा, धर्म नहीं वह मन का;
मिट्टी, जल और आग-पवन का; केवल नहीं गगन का
घर-आँगन, गिरि-वन से लेकर गाँव-राष्ट्र तक छाया,
द्वेष कहाँ इसमें सुर-नर का, वर्ण-भेद की माया।
इसका निर्मल रूप मुकुट की छाया में पलता है;
राजधर्म अनुशासन में, तो क्या न ठीक चलता है;
यह पुत्रेष्टि-यज्ञ भले ही अवध-भूप का सुख हो,
पर मेरी तो यही कामना लोक-मोद का मुख हो!
शांते, यह जो राजासन है, शूल भरा यह पथ है,
उड़ते हुए प्रभंजन में ही धूलभरा यह पथ है;
यश तो जितना है, जो कुछ है, अपयश कहीं अधिक है,
पड़ा नहीं कि मुकुट शीश पर, बनता प्रिय बधिक है।
कहने भर को प्रजा, वचन भूपों-सा वही निकाले,
सुनकर जिसको प्राणों पर ही पड़ जाए सौ ताले;
लोक-धर्म को छोड़ मुकुट पर लांक्षण चलें लगाए,
अगर मुकुट जो नहीं प्रजा क्या अपना धर्म निभाए?
लोक-धर्म को अगर लोक ही पालन नहीं करेगा,
निश्चित है अमृत के फल में विषधर वहीं पलेगा,
और मोह जो राजमुकुट का हुआ प्रबल भूपों में,
तब तो समझो भंग पड़ी है सारे ही कूपों में;
राजकर्म का धर्म तिरोहित, नियम-दंड बस केवल,
पाँव जहाँ पर रखो, वहीं पर काई, कीचड़, काजल।

लोक अगर शंका में है, तो बोले प्रजा संभलकर,
नीति-नियम के, धर्म-परिधि से बाहर नहीं निकलकर।
भले अवध का राज शाप से वंचित नहीं रहेगा;
अफवाहें, दोषारोपण से रक्षित नहीं रहेगा;
जितना दूषित राजतंत्र है, लोकतंत्र उतना ही,
पंकयुक्त जल गँदला होगा, साफ करो जितना ही।
राजमुकुट की खातिर जितना अन्तःपुर आंदोलित,
उधर लोक में नीति-धर्म की कनफुसकी भी चालित;
मोह मुकुट का राजभवन में क्रूर अनय का कारक,
नीति-न्याय के निर्वासन का दुर्निवार यह धारक।
और राख में छिपी आग तब लहकाती चंदन को,
कौन कहाँ तब सुन पाता है मन के मृदुल वचन को?
हृदय भटकता रहता है करुणा के संग विपिन में,
छा जाता है अंधकार भी सोने-सा ही दिन में।
क्या उपाय है बचने का इस दिन के घने तिमिर से?
उगे अमावस की रातों में चन्द्र-रश्मियां फिर से;
पर्वत के सूखे निर्झर फिर भरे मेघ के स्वर में;
धरती का संगीत-नाद बन गूंजे दिक् अंबर में;
ताप सिमट कर ओस बन चले, दूबों पर बिछ जाए;
युगों-युगों से तृषित-जली धरती के प्राण अघाए!
यह संभव है; राजमुकुट जो त्यागी कोई वरेगा,
ऐसा ही पुरुषोत्तम इस धरती को स्वर्ग करेगा।
त्यागी ही इस भरत देश को स्वर्गभूमि कर सकता,
जिसकी वाणी, दृष्टि, करों से मंगल सुधा बरसता।
पिता, जननी, भाई की खातिर त्रिविध ताप को सह ले,
बाधाओं के बीहड़ वन में मलयानिल-सा बह ले।

शांता

नाथ, भला क्या किसी मनुज में यह सब हो, संभव है?
दूर सत्य से लगता मुझको, ऐसा नर पुंगव है।

चाहे जितना धीर-वीर हो, विपदा हुई प्रबल तो,
डिग जाता है पर्वत मन भी उमताया जो खल तो;
हाथ जोड़ लेते हैं सुर भी अगर असुर उमताए,
कौन मनुज पुरुषोत्तम ऐसा, उसके सम्मुख आए?
आए भी तो श्रेष्ठ हितों में वही रक्त का उत्सव,
शोणित के छीटों से रंजित विजय भाव का कैरव ।
फिर तो सुर में और असुर में भेद कहाँ रह जाता,
ऐसे में सुर असुर, असुर सुर; क्या न नाथ दिखलाता?

ऋष्यशृंग

शांते, हिंसा-युद्ध कभी भी प्रेय नहीं हो सकता;
जितना भी यह श्रेष्ठ सिद्ध हो श्रेय नहीं हो सकता;
लेकिन मूल्यों की रक्षा में वही श्रेय बन जाता,
जहाँ अहम की रक्षा में खल असुर बना तन जाता।
अहंकार की आँखों पर तम की पट्टी रहती है;
उसके भीतर ज्ञान-बुद्धि की धार नहीं बहती है;
चेतनता से युक्त अहं हो, तो फिर त्याज्य नहीं है;
यह निजत्व से संचालित हो, ऐसा राज्य नहीं है।
लोकहितों के लिए उठे जो भाव बहुत गर्वोन्नत,
मन में जन-जन अखिल विश्व के लिए शांति की मन्नत;
जो भी श्रेष्ठ सृष्टि के हित में उसी क्रिया में रत हो;
मूल्यों के आराधन में गंगाजल हो, अक्षत हो;
उसकी क्रिया कहीं से दूषित होती नहीं, यह सच है,
अन्य भाव से इसे देखना हीन बुद्धि-लालच है।
सूर्योदय से तम का मरना, क्या हिंसा कहलाए,
और इसी भय से क्या सूरज किरण छिपाता जाए?
ऐसा अगर हुआ, तो शांते, शांति जीवित क्या होगी;
कहीं नहीं होंगे मुनि, साधक, सिद्ध तपस्वी, योगी।
निज हित से ऊपर उठकर जो मूल्यों का है रक्षक,
फल के भीतर छिपा हुआ कैसे हो सकता तक्षक?

धर्म-न्याय विपरीत कर्म जो जग में वही अधम है;
इसे दूर करने में समझो, जो कुछ हुआ, वो कम है।
हिंसा का ले तर्क; अनीति को दूध पिलाना नय क्या?
छिपा हुआ है इस कुतर्क में नहीं सृष्टि की लय क्या?
जब भी धर्म हानि पर होता, है अवतार विभु का;
आभा का साम्राज्य उदित होता है फिर-फिर मनु का;
महाद्वीप की सीमाओं पर तम का व्यूह प्रकट जो,
और हृदय पर घट जाती है घटना कोई अघट जो,
तो भविष्य के घोर तमस का वह संकेत भरा है;
नहीं समझ पाओगी, शांते, कितना लोक डरा है।
अपविद्या की सन्तानें मुँह खोले बनी विभुक्षित;
विद्या के साधक अपने ही घर में नहीं सुरक्षित;
खल की हँसी कँपा देती है वसुधा को अति भय से,
धर्मपुरुष का दंड धरा को भरता सुख-संचय को।
इस पुत्रेष्टि यज्ञ को समझो, नवयुग का आवाहन,
जल पर तिरने वाला है पर्वत-सा भारी पाहन।
कलुषित बल का कंचन साँसों की उष्मा से गलता;
क्या ठहरेगा जहाँ तेज का लोहित ताप उबलता!
सोने के पुतले सब सारे क्षार बनेंगे क्षण में,
प्रज्ञा के सम्मुख क्या भ्रम ही टिका कभी है रण में!
सत्य भले दो हाथों का, रहता है सदा विजय में,
हो असत्य सौ हाथों का ही, जीवन उसका क्षय में।
समझ रहा हूँ, पूछोगी तुम; फिर ये क्षय की बातें?
इसके बिना असंभव ही क्या, शील-विनय की बातें?
तो सुन लो, यह भी संभव है, लेकिन मनुज सजग हो
नहीं पनपने दे शूलों को, तब भी, भुवन सुभग हो।
भूल यही होती है हमसे, हम रहते हैं आश्रित;
निज का तेज नहीं होने देते हैं हम उद्‌घोषित;
वही प्रतीक्षा, आएंगे नर रूप लिए नारायण,
खोले रखते हैं आशा के अपने सब वातायन।

यदि प्रकाश की इच्छा मन में, ज्योति जगाना होगा,
मन में ही क्या द्वार-द्वार पर दीप जलाना होगा।
यह जो काम मनुज को करना, भूपति नहीं करेगा,
पापों को हम पाले-पोषे, सुरपति उसे हरेगा(?)
कलुष सोच जो कलुषित मन को मान दिलाता आए,
सोचो, ऐसे में निर्मल मन शांति कहाँ से पाए!
परजीवी हो, हमीं पाप को बढ़ने देते अक्सर,
खड़े प्रतीक्षा में रहते फिर दशकों क्या, संवत्सर;
होता तो होता ही है अवतार शून्य का भू पर,
चाहे जितना शून्य-शून्य हो, नभ पर, नभ के ऊपर,
और अभी जैसा व्यापा है अनाचार अचला पर;
बैठ गया है ग्रहण कुण्डली मारे चंद्रकला पर;
सबके प्राणों पर संकट है, भय में हैं वनवासी;
सत्य मार्ग के अनुगामी तक, धर्मो के विश्वासी;
यदि इनको संबल मिल जाए, ऐसे किसी मनुज का,
खिलना कहाँ असंभव, शांते, ऐसे में अम्बुज का!
हिमप्रदेश से जलप्रदेश तक सत्ता एक हृदय की,
गूंजेगी गाथा सौरभ की, मन की विभा, विनय की।
रत्नाकर के अतल गर्भ तक रवि-प्रकाश पहुँचेगा,
जमा हुआ वह तम का शासन तब कैसे ठहरेगा!
लेकिन चिंता इसी बात की, कैसे यह संभव हो,
कैसे स्वर्ग यहाँ उतरेगा, जहाँ खड़ा रौरव हो!
जो हो, यहीं बसेगा अब पुस्कर-प्रदेश, यह सच है,
तमसावृत इस क्रूर काल में मन की यह लालच है।
फैलेगा आलोक नया, जो दबा, उठेगा ऊपर,
त्याग, प्रेम, समभाव धर्म से श्रेष्ठ कहाँ कुछ भू पर!
जो भी जहाँ, सभी के हित में राजमुकुट का हित हो!
ऐसा हो कुछ, लोक-लोक क्या, अखिल सृष्टि गर्वित हो!
शांते, इस पुत्रेष्टि यज्ञ के लक्ष्य कई हों, लेकिन
उनमें एक प्रमुख रहता है, आगे ही सद्दोखिन—

शासक किसी वंश का हो, पर प्रजाविमुख न हो वह,
आसन से आसक्त नहीं हो, लोकतंत्र हो महमह!
सत्ता का ही मोह, लोक से शासक रहा कटा-सा,
राजनीति के दाँव-पेंच में पिटा लोक का पासा!
किसी कोटि का तंत्र, वही तो तंत्र सही कहलाता,
जिसमें सत्तासीन लोक का बनता भाग्यविधाता,
और लोक का अर्थ नहीं होता है, लोग निगम के;
सिंहासन की चमक-दमक से उसके रूप ही चमके।
जिसको कहते लोक, दूर नगरों से कहीं बसा है;
अपनी सारी निधियाँ लेकर जीवन जहाँ रसा है,
लेकिन मिलकर ताप जहाँ हरते हैं जीवन-रस को,
शांते, कैसे स्वर्ग कहेगा बोलो कोई उसको।
जिसके जल पर, जिसके वन पर हो अधिकार किसी का;
जिसका उत्सव, रास-रंग हो सब ऋतुओं में फीका;
जब तक सत्ता की आभा है नहीं पहुँचती उस तक,
राजसिंहासन-राजमुकुट ही गलियारे में चकचक;
तो फिर ऐसा तंत्र किसी निशिचर का स्वप्न भयावह,
वहाँ नहीं संध्या-प्रभात में लोकतंत्र का कलरव!
इस पुत्रेष्टि-यज्ञ से बदलेगी शासन की धारा,
निकट आ रहा सूर्य, अभी जो दूर चमकता तारा;
वन, पर्वत, नदियों पर फैला विस्तृत लोक हँसेगा;
निगमों में ही नहीं निगम का सारा भाग्य बसेगा!
जिस सत्ता को नहीं लोक के मन का मिला समर्थन,
तो विनाश के चक्रवात का समझो वहाँ विवर्त्तन।
अच्छा है, वह काल निकट है, जो हिरण्यमय, मणिमय,
ऐसा तुम्हें नहीं लगता है, पुलकित भव है अतिशय?
शांते, मेरी आँखों में देखो, कुछ तुम्हें दिखेगा,
जिसको ही आगे छंदों में जाकर कोई लिखेगा।
और ज्ञान तब अखिल लोक में होगा कहाँ अकेला,
प्रीति-न्याय के धर्म साथ ही सब ऋतुओं का मेला;

अब तक जान नहीं पाया था इस रहस्य की चिति को,
समझ लिया था अंत ज्ञान का, अंत मान कर इति को!
तुम आई मेरे जीवन में कितना कुछ जाना है,
पूर्ण रूप से धर्म-ज्ञान को मैंने पहचाना है—
निज के ही कल्याण-कार्य में लगी हुई जो मति है,
सच पूछो तो वही ज्ञान ही पतित, ज्ञान की क्षति है।
आत्मलाभ के लिए किसी पर शाप नहीं चलता है,
लोकहितों में उठा अगर हो, तो निश्चित फलता है।
जो जीवों के बीच भेद को थिर करता; क्या ऋषि है?
अंधकार से ग्रसित अंध को बाँटे, वह शशि है?
सबके हित जो जोड़ रहा है तोड़ अंध की कारा;
उसके दम से अमृत बनता सागर का जल खारा।
मनुज जनम का एक लक्ष्य बस लोकहितों में रत हो,
अचला पर जो श्रेष्ठ धर्म हैं, उनसे वह अवगत हो;
फिर तो हर नर ही नारायण, तम को ज्योति मिलेगी,
जड़ता जो जम गई शिला-सी, जड़ से वही हिलेगी।
अपने लिए नदी-सा बनना, अपने सुख में खोए,
क्या आश्चर्य अंत में यदि वे अपने सुख पर रोए।
जो समाधि में मंत्र मिले हैं, उनको चले छिपाए,
व्यर्थ, निरर्थक; लोकहितों अगर काम न आए!
जैसे किरणें द्वार-द्वार तक जाती हैं स्वयं चल कर,
पहुँचे जन तक मंत्र सभी गिरि-वन से तुरत निकल कर।
आँखों से देखा है मैंने नीलकुसुम को खिलते;
कुछ झुककर, ऊपर-ही-ऊपर, सोनजुही से मिलते;
देखा है दिन में ही मैंने तुहिण-कणों को गिरते;
रेतों के ऊँचे पर्वत पर काले घन को घिरते।
इन आँखों में तुम्हें दिखेगा एक पुरुष अवतारी,
साध्वी-सी सुन्दर नारी के संग वह वल्कल धारी;
घोर विपिन में नील शैल की प्रभा-वलय आलोकित,
हवनकुंड से धुम्र श्याम संग अग्नि शिखा; ज्यों शोभित,

आभूषण की जगह अंग पर कुसुमों की मालाएं;
चंचल चपला को समेटता बादल दायें-बायें;
कपि-भालू के रूप धरे, ऐसे विमुग्ध वनवासी;
नृत्य-गान में जगी प्रभाती, सोई हुई उदासी।

शांता

आर्य, क्षमा हो, समझ न पाई कुछ भी अबुझ पहेली,
मेरी मति तो इसी लोक से आई हुई सहेली;
आँखों में वल्कलधारी, कपि, भालू, नाथ कहाँ कुछ,
एक प्रेम के सिवा नाथ क्या दिखता और यहाँ कुछ!
नहीं विपिन का नील शैल ही, कोई प्रभा-वलय है,
आज आर्य की आँखों में यह कैसा स्वाप-उदय है?

ऋष्यशृंग

स्वप्न नहीं यह, एक सत्य है, जो भविष्य है, शांते,
उड़ता है जो कुछ भी मन में, वह हविष्य है, शांते!
दस बलियों का बल रेणु-सा कभी बिखरते देखा ?
और रेणु में पर्वत का बल कभी संघरते देखा?
कनक कोट को हिलते देखा कया तुमने तप-बल से?
याकि प्रभंजन को टकराते नभ तक उठे उचल से?
घुस कर गिरि के नाभिकेन्द्र में ज्वार उठाता जब है;
गिर जाता है गिरि का सारा क्षण में ही वैभव है;
गिरि वह जिसने बाँध रखा है सरिता को बहने से,
नहीं मानता किसी तरह से विभु के भी कहने से;
शिला-खंड को फेंक-फेंक धारा को करता आहत;
तोड़ सभी सीमाओं को खंडित कर धर्म-विरासत।
संभव है, इन आँखों में तुमको कुछ कहीं दिखे न,
पढ़ भी इसे नहीं पाओगी, कुछ तो कहीं लिखे न;
ऐसे में विश्वास करो, मैं जो कुछ बोल रहा हूँ,
उस भविष्य के कसे हुए बंधन को खोल रहा हूँ—

रत्नाकर जब रत्न-शिखर को निगलेगा मुँह बाए,
डूब चलेगा कंचन-गिरि तक अपने हाथ उठाए;
गिर जायेगा व्योम तमस का धम से, छिन्न अचानक;
दीप्त दिखेगा तिमिर प्रांत में भाल अनल का धकधक;
उसी अनल के रश्मि-वृन्त पर नई सृष्टि विहंसेगी;
कठिन काल में धैर्य-धर्म की शिक्षा उसे मिलेगी;
जागेगा यह लोक पिता का, माता का, भय क्या है;
प्रकट वही होगी, अब तक जो छुपी, हुई विद्‌या है।
भ्रातृप्रेम के सम्मुख सारी निधियां व्याधि बराबर;
प्रियाहीन तो जीवन जैसे सूखा विस्तृत सागर;
भाग्य राज्य का प्रजा-भाग्य है, गूंजेगा यह स्वर भी,
शांते, अपने इसी लोक में होंगे सुखी अमर भी!
निकट आ रहे कालदेवता की पदचाप सुनो तो;
झरते हैं जो कुसुम-रेणु, आँखों से उन्हें चुनो तो;
अचला की होगी कथा अमर इन पुष्पों में, कलियों में;
घाट-घाट पर जल-महिमा के गाने घर-गलियों में,
और पवन के प्राणतत्व का मनका जाप चलेगा;
संचित जो हो रहा पुण्य है, वह अति शीघ्र फलेगा!
मन है, निर्मल नील गगन का हो विस्तार धरा पर!
उतरेगा अतिशीघ्र उषा ले, शांते, हेम प्रभाकर।
कलरव से भर जायेगी यह निर्जन भूमि मनोहर,
कैसा तो चंचल है त्रेता, दूर अभी है द्वापर।
अपनी ही भूलों से बंधकर सारे पाप मृत्युवश,
ठहरेंगे कैसे प्रकाश के आने पर तम-अपयश!
लेकिन यह सब तो भविष्य का खेल नियोजित समझो,
अभी किसी पर दोष भला कैसे आरोपित तय हो।
हूँ निमित्त भर क्रिया करूँ मैं, इच्छा और किसी की,
बस पुकार है दिशा-दिशा की, अंबर की, धरती की।

शांता

सब कुछ समझ रही हूँ लेकिन एक प्रश्न फिर मन में,
क्या कोई है, देख रहा जो बैठा हुआ गगन में?
अगर सत्य यह, कोई है, जो भू पर उतर चलेगा;
बिखरा है जो भाग्य मनुज का, वह भी संवर चलेगा।
कौन ऊपर, जो आवाहन पर रूप धरे है आता?
मृत्यु बाद भी क्या सचमुच में शेष कोई रह जाता?
और अगर वह आ भी जाए लेकर कल्पकुसुम को,
तो क्या काल नहीं कुतरेगा, इसकी जड़ को, द्रुम को?

ऋष्यशृंग

यह मैंने कब कहा, पुण्य जो अब है खिलने वाला;
लोक-लोक को जो सुवास अनुपम है मिलने वाला;
चिह्न दिखेंगे नहीं काल के कुछ भी इस पर फिर से
नव प्रकाश का सूर्य घिरेगा आगे नहीं तिमिर से?
लेकिन छिपना किसी चीज का, मृत्यु नहीं है उसकी,
ऐसा तो बस वही मानता, मति भ्रम में है जिसकी।
छिपने से ही कहाँ सृजन-अभियान ठहर है जाता?
घोर गहन हो, लेकिन क्या दिनमान ठहर है जाता?
झूल गई शाखाओं से शाखाएं नई निकलतीं,
जिन पर ऋतुएं क्रम से आतीं, मुग्धा बनीं मचलतीं।
अंधकार पर केन्द्रित रखना ध्यान, सदा क्या सुन्दर?
सदाश्रेष्ठ होता है विष से, अमृत-घट, मधुराधर।
प्रिये! सत्य है मृत्यु-तमस का छाना यहाँ निलय में,
लेकिन उचित नहीं है इस पर रुकना सभी समय में ।
अग्नि-शिखा को देखा है, जितना भी हवा डुलाए,
उसकी लपटें छितरा कर भी ऊपर ही बस आए।
जीवन, इसकी गति, इसका जो लक्ष्य, अग्नि हो निश्चित,
मन-प्राणों की पूर्ण चेतना एक इसी में अविहित।

गति चिति की बहती रहती है फिर-फिर रूप बदल कर,
नये रूप में आती है अदृष्ट लोक से चल कर,
ताकि धर्म का बना रहे सम्मान, प्रतिष्ठा नभ की;
शक्ति मिले प्राणों को फिर से; शील, विनय-संचय की।
इस अनंत लोकों में, शांते, जहाँ प्रभा है, तम है,
कौन कहे अपनी शक्ति में कौन प्रबल है, कम है;
हम जिसकी करते पुकार हैं, वही प्रबल बन जाता,
आँखों के आगे सत्य बना गिरि-सा है वह तन जाता।
अभी तमस की शक्ति प्रबल है, दक्षिण वश में रवि है;
तिमिर साधना में साधक, तो शयन-काल में कवि है;
इस पुत्रेष्टि-यज्ञ का कारण, उत्तर अभिमुख रवि हो;
रचे ऋचाएं लोक हितों में जगे जहाँ भी कवि हो!
दिवस और कुछ शेष रह गये, समय बदलने वाला,
आदि-अन्त के लोकों में है नलिन विकसने वाला!
फैल रहा नीलाभ अभी से, मत समझो यह भ्रम है,
खुलनेवाला वह रहस्य है, निश्चय अभी अगम है।
होने को भी एक वर्ष है, यहाँ अवध में ठहरे,
मन पर अब तो छा जाते हैं बीते दिवस सुनहरे!
संवत्सर अब बीत चला है, यही समय था जब हम,
आँखों में वह स्वप्न लिए, अनदेखा, अश्रुत, अनुपम;
अंगदेश से आए थे साकेत तुम्हारे संग में,
लेकर के संकल्प, भीगते नये सृजन के रंग में!
सोने से थे दिवस, रात थी चांदी की-सी चमचम;
वह वसन्त का प्रौढ़ काल था, बौरों का मन गमगम;
कोयल के संगीत-सुरों पर मलियानिल का नर्त्तन;
नव पराग, सौरभ, कुसुमों पर भौरों का आवर्त्तन;
सजा गया मधुमास काल था सुषमाओं का आसन,
समय-समय पर करता रहता मन जिसका पारायण।

वही समय फिर लौट गया है बाहें उठा-उठा कर,
लेकिन केसरिया चीवर में क्यों पलाश खिलते हैं!
सौरभ से हैं दूर; इन्हें इसमें ही सुख मिलते हैं!
लेकिन कुछ तो बात कहीं है, ऐसे हँसे ठठा कर,
ऋतम्बरा प्रज्ञा का वाचक मोह-भ्रांति से निवृत;
हृदय गुहा-सा मोह रहा है विरत हुए इस मन को;
जैसा कि आसक्त रसों के चाहे अखिल भुवन को;
जितना यह निवृत दिखता है, उतना ही है संवृत।
सप्त सुरों में चिड़ियों का संगीत करे कुछ इंगित,
सृजनकाल का देता है संकेत, चिह्न है शुभ का।
देखो तो कितना रोमिल मधुमास, वही जो दुबका,
धरा-गगन पर शुभ्र राशि के चरण चिह्न हैं अंकित!
बस हविष्य के सौरभ के उठने की जो कुछ देरी,
इन चिड़ियों के सुर में ही वेदी पर गान उठेंगे;
वरदानों के साथ पुण्य भी सारे यहाँ जुटेंगे;
कहीं शून्य में रोयेगा तब दुर्दिन भाग्य-अहेरी।

शांता

सचमुच में क्या नाथ अवध में ऐसा सूर्य दिखेगा;
देशकाल अपने हाथों से अपना भाग्य लिखेगा;
ऐसा भाग्य, जिसे रेखाएं मन से नहीं चलातीं;
जिसके पथ में अंधकार की गतियां कभी न आतीं;
अब ऐसा आलोक बिखरने वाला है इस भू पर,
किसी ग्रहण की नहीं चलेगी गति भी इसके ऊपर;
लोक-लोक में कुसुमों के रंगों के रूप खिलेंगे,
लेकिन कहीं किसी के तन पर काटें नहीं मिलेंगे;
बस सुवास के महारास का महामोद फिसलेगा,
इस समाधि को तोड़ेगा जो, रतिपति बना जलेगा?
कहते हैं जब नाथ, कहाँ शंका कोई रह जाती,
जग भी यह विश्वास करेगा; समझ नहीं मैं पाती।

ऋष्यशृंग

क्षमा! तुम्हारी बातों में कुछ मुझको और दिखा हो,
लगा, अर्थ कुछ भिन्न-भिन्न-सा, जैसा नहीं लिखा हो।
लेकिन मैं जो कहना चाहूँ, सीधा और सरल है,
अमृत मिलने से क्या होता, मिटता नहीं गरल है?
उगता है जब सूर्य, छुपा रहता है कहीं अंधेरा,
निद्रा के अदृश्य लोक में अपना डाले डेरा।
कौन कुसुम है, रंग-रूप से हीन नहीं जो रोता?
चाहे जितना भाग्य सबल हो, रेखाओं पर होता,
लेकिन क्या बस यही सोचकर चिंतित लोर बहाएं(?)
चिंता-अवसादों से घिर कर आगे निकल न पाएं;
या फिर यही सोचकर अब तो अमृत हुआ प्रकट है,
क्षय, चिंता, भय, और मरण का रहा कहाँ संकट है;
बंद किए आँखों को देखें इन्द्रधनुष की रचना,
तब तो बहुत कठिन है, शांते, किसी व्यथा से बचना।
जन्म यहाँ जो लेता, उसकी मृत्यु यहाँ निश्चित है,
देशकाल से बंधा हुआ जो पहले से परिमित है;
पर प्रकाश जो हमें मिला है, आगे और मिलेगा;
उसकी रक्षा होगी, तो कुसुमों का देश खिलेगा,
और खिलेगा कुसुम देश, तो क्या सुवास की चिंता,
जाग रहे प्राणी के संग में चलता यहाँ नियंता।
निद्रा में चेतनता का जो साथ नहीं है खोता;
इन्द्रियों के संकेत मात्र से निरालम्ब न होता;
उसके लिए कहाँ होता है सूर्य-अस्त, यह सच है,
सभी तिमिर के पीछे बैठा मन का ही लालच है;
लालच ही यह महातिमिर है, मन को कभी न घेरे,
जड़ता के ही अंधलोक में बस वंशी को टेरे।
एक किरण जो हमें छू गई, सूर्य बने रहना है;
इससे आगे और, शांते, अब मुझको क्या कहना है।

मन को कहीं नींद ने घेरा, तो फिर मृत्यु निकट है,
अंधकार में छिपी नींद की माया बड़ी विकट है;
अगर बुद्धि दे साथ नहीं, तो अंधकार घिर आता,
जो प्रकाश से दूर अभी था लौट वही फिर आता;
एक रूप में नहीं, कई रूपों में भेष बदल कर;
चलना होता है प्रज्ञा को सचमुच बहुत संभल कर,
और नहीं तो छिपी राख में आग कहाँ दिखलाती,
कभी दीप्त हो बालक मन को अपनी ओर लुभाती,
और जरा-सी चूक हुई, तो कितना पड़े चुकाना,
यह सब तो बस वहीं जानता, जिसने यह सब जाना।
निद्रा में मन, भेद कहाँ कर पाता सत्य-असत का ?
बहता रहता है विवेक भी धीर-वीर संयत का।
कभी छला जाता विरागी, तो कभी देवता, नर ही,
बुद्धिविमुख के लिए मृदा भी जल का तेज भँवर ही।
नहीं जान पाता है, मृग क्या, स्वर्ण हिरण भी हो तो
देता है मुनिवेश वरण कर सुर-कुल को दुख-न्यौता।
आगे भी ऐसा ही होगा, मन सचेत न जो हो,
कहते-कहते कहाँ चला आया मैं, रुका न, ओ हो।
लेकिन इतना कहना भी तो बहुत जरूरी था ही,
रखना होगा चेत स्वयं को; तमस; पिघलता लाही।
देवों से भी अधिक प्रबल ये मायावी हैं होते,
बैठे हैं मारण विद्या को छल से यहाँ हसोते;
जिसके अधरों पर वेदों के मंत्र सजे रहते हैं;
लगता है, सच ही तो कहते, जो कुछ भी कहते हैं,
लेकिन इनका हृदय कुंभ है फेनिल हुए गरल का;
सिंधु समूचा सूख जायेगा अगर कहीं जो छलका;
सतयुग का यह काल नहीं, त्रेता है, धर्म यहाँ है,
तीन पाँवों पर खड़ा हुआ ही; सब कुछ शुद्ध कहाँ है?
भले सत्य का आसन सबसे ऊपर और धवल है,
महादेव के जटाजूट पर गंगा का यह जल है,

लेकिन पाप कहाँ बैठा है अपना कंठ दबाए,
कौन जानता है, त्रेता में ऐसा दिन भी आए,
अपमानित हो धम्म अधम से, लांक्षण चले उलीचे,
दिव्य भाल का राजतिलक हो पंकिल पग के नीचे!
हो सकता है, धर्म दुखित हो संन्यासी बन जाए,
वनवासी बन राजतिलक का सारा धर्म निभाए।
कैसे धर्म वहाँ हँस पाए, जहाँ अधम चिल्लाए;
सोचेगा ही मन, कैसे इस छाया से बच पाए;
और छोड़ आए वह संगिनी-संतति कहीं विपिन में,
उससे तो अच्छा ही होगा, जहाँ रात है दिन है।
ऋषि के संरक्षण में रहकर नीति-धर्म को सीखें;
जो होगा गर्भस्थ उसे वह राजरूप न दीखे।
इसको भी लेकर विवाद बन जाए, तो क्या अचरज,
कुछ भी हो, पर ग्रहण-जाल से कब बच जाता है अज?
नारी-नृप तो यश-अपयश की छाया में पलते हैं,
बिछे अग्नि-पथ पर ही दोनों जीवन भर चलते हैं।
वसुधा जिसकी माता हो, उसको क्या नगर रुचेगा,
रुका अगर, तो अल्प काल को, फिर वह कहाँ रुकेगा।
जो धरता है धर्म-लोक हित देह यहाँ वसुधा पर,
सातो सुर को रखा ध्यान में; कहाँ रुका है सा पर?
लेकिन इसी सोच-शंका में वर्त्तमान क्यों रोकें,
अब तो पुण्य उतरनेवाला, उसको ही अवलोकें!
इसीलिए यह आवश्यक है, चेतन-सजग रहें हम,
किसी भ्रांति या मोह-तमस-सरिता में नहीं बहे हम;
जो प्रकाश होनेवाला है, मन में रखे संजोए,
और उसी को युगों-युगों तक चेतन मन यह बोए!
सूर्य नहीं होगा लेकिन धरती पर सूर्य हँसेगा,
निश्चित काल डँसेगा उसको, जो भी इसे डँसेगा।

शांता

अब तो समय निकट ही आया, क्रिया पुण्य की होगी,
जिनको आना था सब आए, भूपति, ऋषि, मुनि, योगी;
चर्चा है कि अश्वमेघ के अश्व निकट सीमा पर,
बढ़ा हुआ संचरण अवध में, इस संदेश को पाकर।
पिता दिखे हैं बहुत व्यस्त, माताएं, आकुल-व्याकुल,
नगर-जनों की तरह भुवन में अपनों के संग मातुल,
और प्रतीक्षा कुछ दिवसों की, पूर्ण कामना होगी;
दूर निगम से विचरेंगे फिर सारे भाव वियोगी;
जैसे, लौट चलेंगे आए दूर देश के भूपति,
देख, अवध के वैभव के संग भाग्यपुंज की संगति।

ऋष्यशृंग

और कहाँ फिर हमदोनों ही यहाँ रहेंगे तब तो,
जाने क्यों लगता है हर क्षण, क्षण-क्षण रीत रहा है;
पाने की इच्छाओं में वेला-सा बीत रहा है।
अंगदेश के वन-पर्वत वे हाँक दे रहे अब तो।
सागर-सी नदियों की अचला, हिमगिरि-से हैं पर्वत,
जो ऋतुओं का देश, दिशापति नमन किए चलते हैं;
जहाँ निशा में दीप; ज्ञान के सूरज से जलते हैं;
'लोक-लोक का हित हो', ऐसा भाव जहाँ है अक्षत।
मुझे घेरती चंपा की मलयज से सनी हवाएं;
कंचन जिसकी धरती को छू कर के दिव्य बना है;
जिसके ऊपर नीलम की परतों का व्योम तना है;
अग्नि-कुंड के पास अचल से गिरती हुई घटाएं;
एक साथ रस के, रागों का, सौरभ का वह उत्सव;
छू जाती नीले पंखों से सुधियों कई मजीठी
घुली हुईं जो अमृत में हो, और अधिक कुछ मीठी,
पिला दिया है इस ऋत्विक को जैसे फिर से आसव!
(रुक कर)

पूर्ण कार्य हो, अंगदेश तब सीधे लौट चलेंगे,
जो भी मन में शेष अभी है, जाकर वहीं फलेंगे।
एक पक्ष है और पूर्ण होने में, अब तो बाकी,
वह भी पूर्ण हुई-सी समझो साध गगन-वसुधा की।
इस प्रवास में, साथ तुम्हारा पाया, तो हर्षित हूँ,
यह उदार, निर्मल, मधुपूरित संगिनी-साथ, नमित हूँ!
तुमसे ही यह मधुर काल कब बीता, ज्ञात रहा कब,
अहोरात्र-सा वर्ष गया, तो बाकी क्या है यह सब!
भले अनलिखा रह जाए ही यह सब त्याग तुम्हारा,
तुम गंगा हो, मैं तो उसका, जैसे, कूल-किनारा!
प्राण वायु-सी रही साथ ही, शक्ति देह की बनकर,
चिंता की आहट के आगे स्वच्छ शिला-सी तन कर,
उसी भाँति से; जैसे, आयुर्वेद जनक थे संग में,
बनी रही तुम अग्नि, हवा, जल, वाक् हुई इस अंग में!
शांते, देह भले इस्थिर जल, मिट्टी, आग, पवन में,
लेकिन वाक् कहाँ जलता है कोई लोक-भुवन में?
वाक्-चेतना है, अभिन्न है, जो अबाध बहता है,
अहोरात्र हो, कल्प या कि मन्वन्तर, यह रहता है;
अगर ध्यान केन्द्रित हो जाए, तो वह जो कि अलभ है,
गूंज रहा जो शून्य गगन में पल में प्रिये सुलभ है।
धनवंतरि का मंद्राचल पर मंथन का वह मंथन,
प्रथम-प्रथम तो उनका ही था औषधियों का ग्रंथन;
जिनके कुल के दिवोदास के शिष्य महर्षि सुश्रुत,
सुश्रुत विश्वामित्र-पुत्र ही औषध ज्ञानी अद्भुत;
अक्षय वय का द्वार खुल गया, जैसे प्रकटी निधियाँ,
तन का ताप तुरत हट जाए, ऐसी ही ये विधियाँ,
बस उन दुर्लभ जड़ी बूटियों को मैं ढूंढ निकालूं,
नहीं असंभव, हिमगिरि पर उन औषधियों को पालूं;
वैसे शंकाएं भी रह-रह मन में हैं उठ जातीं,
रहो घूमते रात-दिवस, तो मुश्किल से मिल पातीं,

लेकिन जब अनुकूल सभी ग्रह और रश्मियां सम में;
मति भी और मनीषा, प्रज्ञा सब ही लगे नियम में,
तो फिर सिद्धि नहीं की शंका, बस बच्चों का भय है
समझो आँगन के आसन पर बैठी हुई विजय है।
सब कुछ तो आँखों के आगे, इसे बताना क्या है,
सरयू तट पर खड़े कोट ने सतयुग भाग्य लिया है।
लेकिन इस पर अभी सोचना व्यर्थ, निरर्थक होगा,
औरों को क्या, मुझको ही अपने ऊपर शक होगा।
अब तो यही सोचता, विधि से हो हविष्य यह पूरा,
मुझको जो संचय करना था, अब वह कहाँ अधूरा?

(एक ओर देखते हुए)

आओ शांते, चलें, अवधपति इधर चले ही आते,
सुरपति के सुख, मोद, हर्ष को जैसे आज लजाते;
बृद्ध शिशिर में ज्यों वसन्त का आना अभी हुआ हो;
कल्पवृक्ष पर पंख समेटे चंचल मुदित सुआ हो।
मन्वन्तर के मनु लगते हैं, नहीं इन्द्र से कुछ कम,
कृतयुग कैसा धन्य-धन्य है, ऋषि मुनियों का आश्रम।
गोधूली की वेला है संध्या कुछ दूर अभी है,
देखो न, पश्चिम में गेरुई लाली हुई घनी है,
रुको यही तुम आश्रम में ही, मैं उनसे मिल आऊँ!

शांता
संझा भी तो आ पहुँची, संझवाती चलूँ जलाऊँ।

(ऋष्यशृंग दशरथ की ओर बढ़ते हैं
और शांता एक ओर)

(पटाक्षेप)

षष्ठ अंक

(विपिन के बीच अलग-अलग अलंकृत आसनों पर दशरथ
और रोमपाद प्रसन्न मुद्रा में दिखते हैं)

रोमपाद

हो गया पुत्रेष्टि अध्वर पूर्ण;
बिछ गया सौभाग्य-कुंकुम-चूर्ण;
खस, अगर, गुग्गुल, सुरभि घनसार
ढो रहा लोभान है सब भार!
कर रहा मधुमास किसका ध्यान,
ले के कुसमों का नवल उपधान?
लौटे घर को गृहिन, छांदस और
इनके संग विद्वस-वेदंतिन, ठौर।
छा रही चंदन की शीतल धूप;
दे गये आशीष सारे भूप;
लौट आश्रम को गए ऋषि अन्य,
शेष है अमृत-कलश पर्जन्य!
मख-हविश में देवता का भाग,
एक आकर्षण भरा अनुराग;
कुंभ रीता ले उठा मधु-भार!
नींद से जागे सकल संसार!

व्याप्त तम में जग पड़ा आलोक!
पीटता छाती तिमिर में, शोक।
गिर रहा है वेग से अपकर्ष;
छा रहा द्युलोक में है हर्ष!
सृष्टि संयत, स्वर्ण का ले थाल,
दीप्त कैसा है गगन का भाल!

दशरथ

जो कहा तुमने, कहा सच, मित्र,
दृष्टि में सारे सुरक्षित चित्र;
अर्चियों से उठ रही वह आग,
जिसमें दुर्दिन के भुअंगम, नाग
जल रहे थे लेके विष का कोश;
जागरण का माह भर उद्‌घोष!
उस समय ऋषि शृंग का वह रूप;
यज्ञ से उठता अनल का भूप!
रह गए थे मंत्र के बस नाद,
काल दुहरायेगा युग-युग बाद।
जो कहा ऋषिशृंग ने, है याद—
'यह नहीं युग-कल्प का संवाद,
सृष्टि के भी बाद यह गतिशील;
आ रहा है श्वेत बन कर नील!
शक्ति होगी, शांति होगी, तात,
आ रहा है पुण्य का वह प्रात!
(रुक कर)
जिसके लिए जोड़े जगत है हाथ,
अब खिलेगा पुण्य का जलजात!
राशियाँ-ग्रह सब तो हैं अनुकूल,
काल की गति अब समेटे भूल!

यह जो फैला है तिमिर का प्रांत,
लौट जायेगा लपेटे ध्वान्त।
विष निगल कर मर रहा अवसाद,
धर्म का है स्वर्ग इसके बाद'

रोमपाद

जो कहा, सब कुछ सुना है, मित्र,
घेरता है पर अभी वह चित्र
चित्र, जिसका रंग अब तक टेस,
मोद-मंगल से भरा वह देस!
आज से, बस वर्ष पीछे पाँच,
दिष्ट; जैसे, पारदर्शी काँच;
जब हुआ था यज्ञ वह सम्पन्न,
ले करों में कुछ हविश के अन्न,
मुदित हो ऋषिश्रृंग; ज्यों, मधुमास,
आ गये थे भाग्य लेकर पास।
था कहा, पुत्रेष्टि-मख के बाद—
हर्ष जागे! सो गया अवसाद।
देश से ऊपर जगेगी प्रीति;
राष्ट्र की फैली विभामय नीति;
एक मधुमय, पारदर्शी ओक,
लीन जिसमें देश, जनपद, लोक।
सूर्य के परिवार होंगे, प्रांत,
जो अभी विक्षुब्ध; होंगे शांत!
आ रहा है अंग का जो अंश,
इस भरत की भूमि का अवतंस,
राष्ट्र का जागेगा फिर से भाव,
शांत सब विपरीत होंगे, बाव।'
और इतना कह हुए थे मौन;
कह रहा मुझमें वहीं फिर कौन—

आयेगा जो अंश का वह अंश
चंप ही कहलायेगा अवतंस

(कुछ क्षणों की शांति)

दशरथ
रुक गये क्यों मित्र, बोलो शेष,
जान लूँ भावी सभी उन्मेष!
दूर देशों तक करेगा राज,
चम्प पर है पूर्वजों की लाज।
अंग-राघा का जो होगा अंश,
धर्म का होगा धरा पर वंश!'
(रुककर)
रोम, देखो आ रहे दामाद,
कर रहे पुत्री से कुछ संवाद।
सोच कर शायद; विजन यह प्रांत,
जो सुखद, शीतल, बहुत ही शांत,
कुछ समय को लें यहाँ आराम,
शेष भी तो अब नहीं कुछ काम।

रोमपाद
हाँ, चलें सरयू नदी के तीर,
आज चंचल बहुत मन का धीर,
सोचते ही, छुट रहा साकेत,
घेरता अवसाद का है प्रेत!
फिर न जाने, कब हो आना, मित्र,
मित्रता क्या? आज जाना, मित्र!
बीतने को और कुछ दिन शेष,
अब महीना होने को, अवधेष!

सुध नहीं चम्पा की आई, हाय,
रह गया किस मोह में निरुपाय!
यह नहीं है मुझको तो अधिकार,
छोड़ आये हैं प्रजा पर भार ।
आ रहा चम्पा का, कल से ध्यान,
कल ही करना है हमें प्रस्थान!
पर सुनो, जो कामना है, बंधु;
पूर्णिमा का ही प्रकट ज्यों इंदु,
पाए या न पाए यश चतुरंग,
चाहता है रोम का यह अंग,
कीर्तियाँ अवधेश-सुत की कांत;
राष्ट्र को मोहे, न केवल प्रांत,
और क्या यह रोम दे आशीष,
तुम अवधपति, पुत्र हो अवनीश!

(कहते-कहते रोमपाद दशरथ के साथ दूसरी ओर बढ़ जाते हैं, कुछ क्षणों के बाद उसी स्थल पर ऋष्यशृंग-शांता का प्रवेश। इधर-उधर देखने के बाद दोनों एक सुघड़-बड़े शिलाखंड पर बैठ जाते हैं)

ऋष्यशृंग
पूर्ण है अब वर्ष, कल प्रस्थान,
आ रहा है देश का अब ध्यान;
भूल सकता पर नहीं साकेत,
नींद में बनकर चलेगा चेत!
हो गया संकल्प है सम्पन्न,
वह विभामय दिष्ट है आसन्न!
(कुछ गंभीर होते हुए)
क्या हुआ, तुममें नहीं वह हर्ष?
चेतना पर क्यों खिंचा है कर्ष?

जग गया फिर क्या पुराना मोह?
है कठिन जिसका निवारण, ओह!
पर तुम्हें तो और चलना साथ,
मुक्ति भव की है तुम्हारे हाथ।
मोह क्यों घेरे हमें? फिर इस समय में!
जो हमें पाना था; पाया है निलय में।
है कठिन इसको कभी भी भूल पाना,
जो तुम्हारे साथ रहकर मैंने जाना-
साथ नारी का मिले, तो सिद्धि संभव;
एक क्षण में हो चले अनुकूल भैरव;
इस धरा पर नारी ही संगीत-कलरव;
कुछ न कांता से अलग है,मोक्ष या भव!
अग्नि से जो उठ रही चिंगारियाँ थीं;
जिनके आगे घुटने टेके आँधियाँ थीं;
रश्मियों के लोक उठते बुलबुले-से,
ऋतु शरत के साथ चलते, सब धुले-से;
किस तरह से देखकर विस्मित रही तुम,
और जो देखा था तुमने, हो वही तुम।
दृष्ट जो कुछ है जगत में भेद लेकर,
चिति-वलय से सब बंधे हैं, सब अगोचर;
बुद्धि का यह खेल है, मन दीन करता,
भ्रांति को आगे किए निर्भय विचरता;
चेतना से दूर तुम जितना चलोगी,
व्याधियों की आग में उतना जलोगी!
सुख कहीं बाहर नहीं है, तुम में इस्थित,
हर समय, हर काल में वह है व्यवस्थित।
यह नहीं, ऐसा नहीं, वैसा जो होता,
भ्रांत वह, अपने लिए दुख को संजोता।
शक्ति के कण, शक्ति से कुछ कम कहाँ हैं,
एक ही से दीप्त हैं सब, जो जहाँ हैं।

उस विभामय रूप को अब तो निहारो,
जो दुखों के हेतु-कारण; मत पुकारो!
जिस तरह से अग्नि केवल उर्ध्वगामी,
अपनी अक्षय शक्ति का वह आप स्वामी,
रश्मिकण उठते, समाते फिर उसी में
भेद भी दिखता कहीं, कुछ भी, किसी में?
कुछ नहीं। तुम इस तरह से दुखित मत हो,
जो मिले, स्वीकार लें सम्मुख विनत हो।
जो प्रकृति है चाहती स्वीकार हो अब,
जिससे मंगलमय-मधुर संसार हो अब!
धार के विपरीत बहने में जो सुख है,
उसकी काया में समाया दुख-ही-दुख है।
लोक को जो मन समर्पित हो, वही शुभ,
सत्य-पथ से मन न विचलित हो, वही शुभ!
धर्म के आगे अधम टिकता नहीं है,
कोई जिसका भाग्य भी लिखता नहीं है।
एक उल्का-पिण्ड जैसा वह अधम है,
लोक-मंगल-कार्य का कंटक विषम है।
एक चिति ही धर्म है, आगे नहीं कुछ,
खोलकर आँखें निहारो, है कहीं कुछ?
कुछ अगर, तो नील निर्मल व्योम है बस,
भाल पर जिसके सुहाता सोम है, बस।
है प्रतीक्षा में, उगेगा सूर्य कल का,
आ रहा है नील गिरि भू पर अतल का!
अब तो शांते, स्वाति बूंदों-सी झरो तुम!
आ रहीं जो रश्मियाँ, स्वागत करो तुम!
तुम करो विश्वास, आगे जो चरण है,
चाहती जो तुम, उसी का अवतरण है!
आ रहा है सूर्य-कुल का तेज धारे,
पार होगा दृष्ट भव जिसके सहारे,

नीलमणि-आलोक होगा; क्यों डरो तुम!
उठ रहीं जो रश्मियाँ स्वागत करो तुम!
क्या भरत की भूमि भर ही? सृष्टि सारी,
बंधनों से मुक्त होंगी बद्ध-नारी!
धैर्य तुमने जो धरा है, फिर धरो तुम,
आ रहीं जो रश्मियाँ, स्वागत करो तुम!
यह न समझो, यह अवध की चाह भर है,
पुत्र पाने के लिए मख, राह भर है;
है प्रतीक्षा में ये सारी सृष्टि भर ही,
जग रही क्या रात भर? चारो पहर ही;
और अब वह दिष्ट पथ पर आ रहा है,
कौन है, सुर में प्रभाती गा रहा है?
पुण्य इसमें ही तुम्हारा है, वरो तुम!
आ रहीं जो रश्मियाँ, स्वागत करो तुम!
राज से वनवास तक समभाव में हो!
अब कहीं प्रज्ञा नहीं भटकाव में हो!
आ रहा आलोक जो, उतरे घरों में!
रश्मियों की साधना हो अब नरों में!
मृत्यु का अभिनय रुके, जीवन विहँस ले,
हाथ में संजीवनी जीवन-कलश ले!
यह अविद्या नर्क है, उड़कर तरो तुम,
आ रहीं जो रश्मियाँ, स्वागत करो तुम!
काल अब वह सन्निकट है, जो दिखेगा,
लोकमंगल की नई पोथी लिखेगा,
तोड़ घेरा बढ़ चली है क्षितिज रेखा;
चाहता था जो, वहीं पर राष्ट्र देखा;
देश से ऊपर विभा से पूर्ण मंडल,
राष्ट्र की चारों दिशाएँ बहुत चंचल;
एक लय से बंध चली हैं, एक सुर से,
वेदना के विहग कब के उड़े फुर से!

मुक्ति की नदियाँ बहेंगी केश खोले;
हम सुनें या ना सुनें, पर व्योम बोले।
ये घने जंगल, ये पर्वत, खाइयाँ ये;
चंदनों के वन, घनी अमराइयाँ ये;
माँ की गोदें फिर बनेंगी, माँ के आँचल;
और फिर घनसार सबके नेत्र-काजल।
कंदराओं में छिपे नरभक्षी, पापी,
जो समझते अपने को बढ़कर प्रतापी;
गूंथते हैं अस्त्र में जो नर-कुसुम को;
उनकी उत्पातें कहें क्या और तुमको
रक्त का जो पान करते मोद में हैं;
देवशिशु के सामने जो क्रोध में हैं;
काल को होंगे समर्पित, जो रुके न,
अवतरित विभु के चरण पर जो झुके न!
फिर धरा पर शांति का उद्घोष होगा;
चाहते जो देवता हैं, तोष होगा;
कंटकों पर ही खिलेंगे फूल नभ के,
राग झंकृत देश में होंगे विभव के!
स्नेह, ममता का खुला व्यापार होगा;
दिव्य वह सचमुच नया संसार होगा।
पँखुरी से झर रहे मकरंद कोमल;
हर हृदय से उठ रहे वे छंद कोमल;
दूर तुमसे भी नहीं वह दिष्ट, सुन लो!
पुण्य का यह काल है, मन में सगुन लो!
अंश मेरा, अंश तेरा, श्रेष्ठ जग में,
शृंग-शांता-संतति कुल ज्येष्ठ जग में।
शृंग होगा शुंग-कुल से ख्यात, शांते!
कह सका न तुमसे जिसको स्यात, शांते!
राष्ट्र के हित में लगा सारंग होगा;
जागता जिसमें हमेशा अंग होगा।

कौन-सा दुख शेष अब, जिससे डरो तुम?
आ रहीं जो रश्मियाँ, स्वागत करो तुम!

(एक क्षण मौन रहने के बाद ऋष्यशृंग विमुग्ध भाव से आकाश की ओर देखते हैं, अपने दोनों हाथों को कुछ-कुछ ऊपर की ओर उठाए।)

(नेपथ्य में समूह गीत-गायन)

जाल समेटो, निशा! प्राची में जाग रहा है भोर,
बिखराता है सुरभि-रंग को अपने चारो ओर!
चंचल है नभ भी कुछ ऐसा, थिरक गये हों पाँव,
कोयल के स्वर में ही कागा बोल रहा है, काँव।
कण-कण में संगीत भरा है; कहीं नहीं है शोर
जाल समेटो, निशा! प्राची में जाग रहा है भोर।

(शांता अपने हाथों में आँचल लिए कभी ऋष्यशृंग को देखती है, और कभी आकाश की ओर)

(पटाक्षेप)